THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैन गीता

सम्मत्यर्थ / समीक्षा हेतु / भेंट
रतनचन्द भायजी
प्रकाशक / सम्पादक

रचयिता

श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज

प्रकाशक

श्री रतनचंद जी भायजी

दमोह (म. प्र.)

मनोभावना—
आचार्य श्री विद्यासागर जी

समाधान—
श्री विनोबा जी, पवनार (वर्धा)

श्रद्धासुमन—
सिंघई गुलाबचन्द, दमोह

प्रकाशक—
रतनचन्द जी भायजी, दमोह (म. प्र.)

संस्करण—
प्रथम १०००, अप्रेल १९७८

मुद्रक—
महेन्द्र प्रिन्टर्स
सराफा, जबलपुर
फोन : २०२६७

सम्मत्यर्थ / समीक्षा हेतु / भेंट

प्रकाशक / सम्पादक

मनोभावना

विगत बीस मास पूर्व की बात है, राजस्थान स्थित अतिशय क्षेत्र महावीर जी में महावीर जयन्ती के शुभावसर पर ससंघ में उपस्थित था। उस समय समण सुत्तम का, जो सर्व सेवा संघ वाराणसी से प्रकाशित है, विमोचन हुआ। यह एक सर्व मान्य संकलित ग्रन्थ है। इसके संकलनकर्ता जिनेन्द्र वर्णी जी स्व. क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी के अनन्य शिष्यों में एक हैं। आपने जैन सिद्धान्त का अवलंबन करके यह नव गीता समाज के सामने प्रस्तुत किया है। आपका यह कार्य प्रेरणाप्रद एवं स्तुत्य है।

इस ग्रन्थ में चारों अनुयोगों के विषय यथास्थान चित्रित हैं। अध्यात्मरस से ओत-प्रोत ग्रन्थराज समयसार, प्रवचन सार, नियमसार, अष्टपाहुड़ पंचास्तिकाय, द्रव्य संग्रह, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की गाथायें इसमें प्रचुर रूप से संकलित हैं। यह ग्रन्थ आद्योपान्त प्राकृत गाथाओं से सम्पादित है। पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्ताचार्य ने इस ग्रन्थ का संक्षेप किन्तु सुन्दर गद्यानुवाद किया है। जो जन प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ हैं उन्हें यह ग्रन्थ गत विषय को समझने में सम्पूर्ण सहायक है।

समणसुत्तम के मूल प्रेरणा-स्रोत समाज सेवी सर्व सेवा-संघ के निर्माता विनोबा जी (बाबा) हैं। पच्चीसवां वीर निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में जैन समाज से आपने मांग की थी। यद्यपि जैन साहित्य विपुल मात्रा में है तथापि उससे सब लोग लाभ नहीं पा रहे हैं। अतः समाज के सम्मुख एक ऐसी कृति प्रस्तुत की जाय कि जिससे जैनेतर भी जैन दर्शन से आत्मोन्नति कर सकें। वह कार्य आज सानंद सम्पन्न हुआ।

मन में बहुत काल से करवटें ले रहा था कि एक ऐसा काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया जाय कि आबाल, वृद्ध उस ग्रन्थ के संगीत के माध्यम से अल्प काल में ही पढ़कर जैन दर्शन की उपयोगिता एवं ध्रुव बिन्दु के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कर सकें और जीवन को समुन्नत बना सकें। किन्तु काल-लब्धि के बिना भी कोई कार्य नहीं हो सकता और पुरुषार्थ से मुख मोड़कर काल लब्धि की प्रतीक्षा करने से भी काल-लब्धि नहीं आ सकती है। इसी बीच बनारस के दो पत्रों के माध्यम से समणसुत्तम के

पद्यानुवाद के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई। एक पत्र था श्रीमान् पं० जमनालाल जी शास्त्री का एवं दूसरा था श्री कृष्णराज मेहता जी का।

शुभस्य शीघ्र इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुये गुरु स्मृति के साथ ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारम्भ किया। तीन चार स्थलों मे गाथागत रहस्य को समझने मे पंडित कैलाशचन्द जी कृत गद्यानुवाद ने दीपक का काम किया है। किन्तु यह अनुमान नहीं था कि अनुवाद (पद्यानुवाद) इतने अल्प काल मे सम्पन्न होगा। पद्यानुवाद मे केवल साढे सात मास लगे और सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि पर सानन्द सम्पन्न हुआ जो पाठकों के सम्मुख जैन गीता के रूप मे प्रस्तुत है।

जैन यह आज तक कई श्रीमानो, धीमानो एवं सतो की दृष्टि मे भी जाति वाचक ही रहा है जबकि वह उस सहज अजर अमर अमूर्त आत्मा की ओर मुमुक्षुओं को आकृष्ट करता है। विषय कषायों से ऊपर उठाकर उन्हे परम शांति पथ का प्रदर्शन कराता है। जैन शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है। जयति स्वकी यानि इन्द्रियाणि आत्मन स जिन जिन एव जैन इति। जो महापुरुष अपनी इन्द्रियाँ एवं आत्मा को पूर्णरूपेण जीतता है, उन्हे कुमार्ग से बचाता है वह जिन है, जिन ही जैन है, जैन का गी अर्थात् वाणी और उस गी का भाव या सार के अर्थ मे ता प्रत्यय का प्रयोग करने से गीता शब्द की निष्पत्ति होती है। अत यह सुस्पष्ट हुआ कि उन जिनेन्द्र भगवान की वाणी के सार का नाम ही जैन गीता सिद्ध है।

पौद्गलिक परणति रूप शब्दो मे ही न उलझकर शब्दावबोध मे अर्थात् बोध एवं अर्थावबोध मे उस परम केन्द्र बिन्दु का भी अवगम प्राप्त कर उस तक जाने का साधको को सतत् प्रयास करते रहना चाहिये। इसी उद्देश्य को अपनी दृष्टि मे रखकर साधना पथारूढ साधको सतो ने स्व पर कल्याण हेतु मित मिष्ट वचनो मे हमे उस सहज चेतनाभाव सत्ता का उपदेश दिया है और आजीवन उस परम सत्ता का मनन मथन कर नवनीत के रूप मे विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

झर झर करता झरना, बहता चल चल चलना।
उस सत्ता से मिलना, पुनि पुनि पडे न चलना॥

लखना तज कर लिखना सहज शुद्धात्मा को अभीष्ट नहीं था तथापि चिरानुभूत संकल्प-विकल्प के संस्कार ने चंचल मन को लिखने के

विकल्प की ओर आकृष्ट किया, फलस्वरूप आभ्यान्तर परणति छूटी और वहिः परणति प्रवाहित हुई। छद्मवस्था का मनोबल इतना निर्बल है कि वह अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अपने चंचल स्वभाव का परिचय दिये बिना नहीं रहता। इसी से मन ने प्रस्तुत कृति लिखने का विकल्प किया, यह भी समयोचित ही हुआ। आगम उल्लेख है कि विषय कषाय रूप अशुभ उपयोग से बचने के लिये सहज स्वभाव रूप शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिये तत् साधनभूत शुभोपयोग का आलंबन लेना मुनियों सतपथ साधकों एवं सतों के लिये भी सामयिक उपादेय है ही। अतः मनोभावना यही है कि अध्यात्म-रस से परिपूरित इस कृति का मनोयोग से आस्वादन कर भव्य पाठक परम तृप्ति का अनुभव करें!

समता अरुणिमा बढ़ी,
उन्नत शिखर पर चढ़ी!
निज दृष्टि निज में गढ़ी,
धन्यतम है यह घड़ी।

यह सब स्व वयोवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञान वृद्धाचार्य गुरु श्री ज्ञानसागर महाराज जी के प्रसाद का परिणाम है कि परोक्ष रूप से उन्हीं के अभय चिन्ह चिन्हित कर-कमलों में जैन गीता का समर्पण करता हुआ.........।

गुरु चरणारविंदचंचरीक
ॐ शुधात्मने नमः
ॐ निरंजनाय नमः
ॐ श्री जिनाय नमः
ॐ निजाय नमः

समाधान

(विनोबा)

मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उसमें आखिरी, अन्तिम समाधान, जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, इसी साल प्राप्त हुआ। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार गीता में सात सौ श्लोकों में मिल गया है, बौद्धों का धम्मपद में मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनों के लिए मुश्किल बात थी, इसलिए कि उनके अनेक पन्थ हैं और ग्रन्थ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुरआन है, कितना भी बड़ा हो, एक ही है। लेकिन जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर ये दो हैं, उसके अलावा तेरापन्थी, स्थानकवासी ऐसे चार मुख्य पन्थ तथा दूसरे भी पन्थ हैं। और ग्रन्थ तो बीस-पच्चीस हैं। मैं बार-बार उनको कहता रहा कि आप सब लोग, मुनिजन, इकट्ठा होकर चर्चा करो और जैनों का एक उत्तम, सर्वमान्य धर्मसार पेश करो। आखिर वर्णीजी नाम का एक "बेवकूफ" निकला और बाबा की बात उसको जँच गयी। वे अध्ययनशील हैं, उन्होंने बहुत मेहनत कर जैन परिभाषा का एक कोश भी लिखा है। उन्होंने जैन धर्मसार नाम की एक किताब प्रकाशित की, उसकी हजार प्रतियाँ निकालीं और जैन समाज के विद्वानों के पास और जैन समाज के बाहर के विद्वानों के पास भी भेज दी। विद्वानों के सुझावों पर से कुछ गाथाएँ हटाना, कुछ जोड़ना, यह सारा करके जिणधम्म किताब प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से एक संगीति बैठी, उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान, श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा करके फिर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, आखिर सर्वानुमति से श्रमण-सूक्तम्—जिसे अर्धमागधी में "समणसुत्तं" कहते हैं, बना। उसमें ७५६ गाथाएँ हैं। ७ का आँकड़ा जैनों को बहुत प्रिय है। ७ और १०८ को गुणा करो तो ७५६ बनता है। सर्वसम्मति से इतनी गाथाएँ लीं। और तय किया कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वर्धमान-जयन्ती आयेगी, जो इस साल २४ अप्रैल को पड़ती है, उस दिन वह ग्रन्थ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जायगा। जयन्ती के दिन जैन धर्म-सार, जिसका नाम

"समणसुत्तं" है, सारे भारत को मिलेगा और आगे के लिए जब तक जैन, उनके धर्म वैदिक, बौद्ध इत्यादि जीवित रहेंगे तब तक "जैन-धर्म-सार" पढ़ते रहेंगे। एक बहुत बड़ा कार्य हुआ है, जो हजार, पन्द्रह सौ साल मे हुआ नहीं था। उसका निमित्तमात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की कृपा है।

मैं कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोडकर महावीर से बढकर किसी का असर मेरे चित्त पर नही है। उसका कारण यह है, कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्याग्रही बनो। आज जहाँ-जहाँ जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधी जी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नही, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों मे, सब पन्थो मे, सब मानवो मे सत्य का जो अंश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्याग्रही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनो मे फरक ही नही दीखता है।

ब्रह्म-विद्या मन्दिर
पवनार (वर्धा)
२५-१२-७४

राम हरि
राम हरि
राम हरि
हस्ताक्षर श्री विनोबा जी

श्री

श्रद्धा सुमन

जैन गीता के रचयिता

कर्नाटक प्रान्त के जिला बेलगांव में जैन धर्मानुयायी श्री मल्लप्पा जी की धर्मपत्नी श्रीमती की कूँख से जन्मे श्री विद्याधर जी जो कि दिगम्बर दीक्षा लेकर १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी के नाम से इस समय भारत देश में यथानाम तथा गुण से प्रसिद्ध हैं इस ग्रन्थ के कर्त्ता हैं।

आपका जन्म ग्राम सदलगा में वि. स. २००३ आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को माता श्रीमती जी से हुआ था। आप अपने चार भाइयों सहित अपने घर में रहते थे। आप जब 9 वर्ष के थे, उसी समय से आपके मन में मनुष्य भव सार्थक करने की उत्कट अभिलाषा थी, जिसके प्रतिफल में आचार्य शांतिसागर जी के पास जाकर आपने उनके उपदेशामृत का पान किया और आत्म हित करने घर वालों से बिना पूछे घर छोड़कर चल दिये। राजस्थान में जयपुर नगर में आचार्य देशभूषण महाराज का समागम हो गया और आपने उनसे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया।

राजस्थान का भ्रमण करते-करते अजमेर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के दर्शन हुये और आप उनके समागम में रहने लगे। आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के पास रहकर आपने जैन ग्रन्थों, काव्य ग्रन्थों एवं न्याय ग्रन्थो का भी अध्ययन किया। आपकी विद्याध्यन करने की लगन, बुद्धि एव प्रतिभा से प्रभावित होकर तथा आपकी वीतराग परणति को देखकर, आचार्य श्री ज्ञान श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने अजमेर मे दिनांक ३० जून १९६८ को आपको ब्रह्मचारी पद से सीधी मुनि दीक्षा प्रदान की। मुनि दीक्षा के समय आपकी आयु केवल २२ वर्ष की थी।

अनुकरणीय :

आपका पूरा परिवार एक भाई को छोड़कर सभी लोग माता जी, पिताजी तथा दो भाई एव दो बहिने मोक्ष मार्ग पर चल रही हैं। दो भाई

श्री १०५ एलक योग सागर जी एवं श्री १०५ क्षुल्लक समय सागर जी आपके ही संघ में आत्म साधना में रत हैं तथा माताजी, पिताजी एवं दोनों बहिनें श्री १०८ आचार्य धर्मसागर जी के संघ में आत्म कल्याण कर रहे हैं।

आपकी मातृभाषा कन्नड है फिर भी बहुत ही अल्प समय में (सिर्फ पाँच वर्ष मे) आपने संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी एवं प्राकृत भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। आज जनता जब आपके हिन्दी मे प्रवचन सुनती है तो दाँतों तले अँगुली दबाकर रह जाती है।

संस्कृत भाषा पर तो आपका विलक्षण आधिपत्य है। अच्छे-अच्छे व्याकरणाचार्य भी आपके संस्कृत ज्ञान को देखकर चकित हो जाते हैं। आपने अपने अध्ययनकाल मे इन भाषाओं का अध्ययन करने मे उग्र पुरुषार्थ एव कठिन परिश्रम किया है। आप चौबीस घंटे मे सिर्फ तीन घंटे इस शरीर को विश्राम देते थे और इक्कीस घंटे निरन्तर विद्याध्ययन मे लगे रहते थे। जिसको देखकर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी भी आपको बार-बार रोकते थे कि इतना परिश्रम करना ठीक नही है, परन्तु आप अपनी लगन के पक्के थे जिसका प्रतिफल आज आपके सामने है कि आप इस छोटी सी उम्र मे ही विद्या के सागर बन गये है और आपने बहुत से ग्रन्थो की रचना की है एव कतिपय ग्रन्थों के अनुवाद भी किये है।

आपने संस्कृत भाषा मे 'श्रमण शतकम', 'निरन्जन शतकम', 'भावना शतक' आदि तथा हिन्दी मे 'निजानुभव शतक', 'योग सार', 'समाधितंत्र', 'इष्टोपदेश', 'एकीभाव स्तोत्र' आदि ग्रन्थो की पद्य में रचना की एवं अनुवाद किया। 'श्रमण सुत्तम' का हिन्दी अनुवाद आचार्य श्री ने जैन गीता के नाम से किया जो कि आपके हाथ मे है। यह ग्रन्थ कुंडलपुर में सन् १९७६ के चातुर्मास मे पूर्ण हुआ एवं सन् १९७७ के चातुर्मास मे समयसार की गाथाओं का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ। इस समय समयसार कलश का हिन्दी अनुवाद समाप्त होने जा रहा है। दोनों ग्रन्थ आपके आत्म-हित करने मे सहायक होने के लिए शीघ्रातिशीघ्र आपके पास आने वाले है।

इन सभी ग्रन्थो में आपकी आत्मानुभूति के साथ वीतरागता से तन्मय चिन्तन शैली की झलक अतिशयता मे प्राप्त होगी। प्रत्येक छंद मे वीतरागता से ओत-प्रोत तथा निर्दोष काव्य के भी अपूर्व दर्शन होंगे।

पद्य में लिखने का एक ही कारण आचार्य श्री बतलाते हैं कि सभी पाठकगण छंद को हमेशा गुनगुना सकते हैं और याद भी कर सकते हैं। आप भी जब अपने मुँह से इन छंदों को बोलते हैं तो सुनकर के श्रोतागण गद्-गद हो जाते हैं। सभी ग्रन्थों मे दिये गये उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि आपकी चिन्तन शैली विलक्षण है। आजकल भी आप स्वयं एवं आपके संघ के एलक क्षुल्लकगण भी अपना अमूल्य समय ज्ञानाराधन मे लगाते हैं। एक क्षण भी व्यर्थ नही जाने देते। एक बार हमने कहा कि आप लोग तो जरूरत से ज्यादा इस शरीर से कार्य लेते हैं, इसको थोड़ा विश्राम भी नही देते, तो आचार्य श्री बोले कि एक सेकन्ड भी यदि प्रमाद करे तो हमारी कई वर्षों की तपस्या नष्ट हो जाती है। इसलिये आप अपने उपयोग को पढ़ाई मे, शास्त्र लिखने में तथा तत्त्व चर्चा मे ही लगाये रहते है। विशेष बात यह है कि आप श्रावको मे मात्र तत्त्व चर्चा ही करते हैं, अन्य कोई बात नही करते।

आचार्य श्री की विशेषता है कि किसी भी प्रकार की तत्त्व चर्चा ही आप हमेशा प्रसन्न मुद्रा मे ही चर्चा करते है, कभी भी आपकी मुद्रा में म्लानता नही आती। इस समय की प्रचलित विवादग्रस्त मान्यताओं जैसे निश्चय व्यवहार, निमित्त उपादान, क्रमबद्ध पर्याय, वीतराग सम्यग्दर्शन, सराग सम्यग्दर्शन, निश्चय चारित्र, शुद्धोपयोग, शुभोपयोग, स्वरूपाचरण, चारित्र का आगमानुकूल निर्दोष चिन्तन चिन्हित समाधान बहुत ही सरल अच्छे एवं अकाट्य उदाहरणो मे परिपूर्ण भाषा मे करते है कि श्रोता के हृदय मे सीधे प्रवेश करके उसका समाधान करते है। इन सब कारणो से आचार्य विद्यासागर जी को इस युग का समन्तभद्र कहा जावे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

आप चारित्र पालन करने मे भी चारित्र चूडामणि है। आप छत्तीस-छत्तीस घंटे तक समाधि मे लीन रहते हैं। आप अपने मुनि दीक्षाकाल मे ही चार रसों का त्याग किये हुए है, सिर्फ दो रस (दही, दूध) को ही आप लेते हैं। आपके निर्दोष चारित्र पालन तथा तत्त्व ज्ञान एवं प्रखर बुद्धि को देखकर ही आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने स्वयं आचार्य पद छोड़कर आपको आचार्य पद से विभूषित किया। जिनके गुरु मे इतनी विलक्षण विनय-सम्पन्नता हो कि अपने शिष्य को ही आचार्य पद देकर उनको नमस्कार किया होवे उनके शिष्य की विनय-सम्पन्नता भी अपूर्व ही

है। आप संघस्थ साधुओं से आचार पालन कराने में भी श्रीफल के समान ऊपर से कठोर किन्तु अंतरंग में अत्यन्त कोमल हैं। आचार्य श्री को अपने शिष्यों की शिक्षा एवं उनके चरित्र पालन कराने आदि का भलीभांति ध्यान रहता है। आपने अपने गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज की सल्लेखना के समय जो अपूर्व सेवा की उसकी चर्चा सुनते ही आंखों में अश्रुधारा प्रवाहित हो जाती है।

आपने अपने रचित ग्रन्थों में :

'निजानुभव शतक' में—आत्मानुभव के उपाय, आत्मानुभव के बाधक कारणों का ज्ञान एवं आत्मानुभव का फल।

'निरञ्जन शतक' में—भगवान भक्त और भक्ति की अपूर्व धारा प्रवाहित की है जिसमें भक्त स्वानुभूति के द्वारा भगवान से अभेद हो जाता है और द्वैत समाप्त हो जाता है।

'भावना शतक' में—सोलह कारण भावनाओं का अपूर्व चिन्तनपूर्ण भावों का प्रदर्शन किया है। इन भावनाओं के मनन एवं अनुभवन के द्वारा अगले भवों में तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

आचार्य श्री के बारे में जो भी लिखा जावे सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। आपकी प्रतिभा एवं श्रमणोत्तम वृत्ति को देखकर श्रावकों का मस्तक बरबस आपके चरणों में झुक जाता है। आपके मन में एक ही बात समायी है कि जिस प्रकार मैं मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर हो गया हूँ उसी प्रकार इस संसार के मनुष्य विषय वासना की झूठी चकाचौंध को छोड़कर मोक्षमार्ग में लग जावें। ऐसी आपकी अनुकम्पा युक्त उत्कट भावना है जिसे देखकर ऐसा लगता है कि आप भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर ही लेंगे। आपके वीतरागता से ओत-प्रोत एवं असीम अनुकम्पा से भरपूर प्रवचन सुनकर प्रत्येक श्रोता को ऐसा लगने लगता है कि यह संसार क्षण-भंगुर एवं सारहीन है इसलिये आचार्य श्री के चरणों में रहकर आत्म-हित कर लिया जावे।

अपूर्व अवसर :

यह तो सिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर के बड़े बाबा की चमत्कारिक शक्ति का ही प्रभाव तथा हम लोगों का परम सौभाग्य है कि ऐसे वीतरागी परोपकारी

आत्मानुभवी संत भ्रमण करते-करते श्री दि० सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर जी में बड़े बाबा के दर्शनार्थ आये, मात्र तीर्थ यात्रा करने। परन्तु हम मध्यप्रदेश वालों का सौभाग्य रहा कि बड़े बाबा के चरणों में सन् १९७६ एवं सन् १९७७ में दो चातुर्मास सानन्द बहुत शालीनता के साथ एवं अमृतवाणी की वर्षा के साथ सम्पन्न हुए और इन दो वर्षों में वीतरागी संत की वाणी एवं श्रमणोत्तम चर्या को हजारों, लाखों लोगों ने कुण्डलपुर आकर सुना और देखा। इन दिनों में कुण्डलपुर जी में तो चतुर्थकाल का नजारा देखते बनता था। ऐसा लगता था कि आचार्य श्री के चरणों में सारा जीवन समाप्त होवे और सम्यक्त्व का प्रकाश प्राप्त कर हम अपने मनुष्य भव को सफल करें। आचार्य श्री को चातुर्मास के बहुत निमंत्रण आते रहते हैं। हमें फिर भी आशा है कि अगला चातुर्मास भीश्री दि० सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर जी में ही होगा। तभी दर्शन ज्ञानचारित्र की एकता में सम्पन्न इस संत के समागम में हम लोग आत्म कल्याण के पथ पर और आगे बढ़ सकेंगे। श्री दि० सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर जी में हजारों यात्रियों ने आकर आचार्य श्री के प्रवचनों का लाभ लिया है। जिसके कारण ही आचार्य श्री जहाँ भी विहार करते हैं वहाँ दर्शनार्थियों की अपार भीड़ आचार्य श्री के दर्शन करने एवं उनके मुँह से निकले दो शब्द सुनने को आकुलित रहती है।

अन्त में बड़े बाबा से प्रार्थना है कि आपकी भक्ति के प्रभाव से इस पामर का हृदय इतना निर्मल हो जावे कि उस हृदय में आचार्य श्री के चरण कमल तब तक रहें जब तक इस कीट का उद्धार न हो जावे तथा आपकी चुम्बकीय शक्ति का इतना प्रसार होवे कि आचार्य श्री का विहार कहीं भी होवे परन्तु चातुर्मास हर बार कुण्डलपुर जी में ही होवे।

इन शब्दों के साथ मैं इस अनुवाद ग्रन्थ को विद्वानों के हाथों समर्पित करता हूँ। इस भावना से कि इसे पढ़कर सब लोग आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होवें और ऐसी भावना करता हूँ कि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज बहुत समय तक हमारा पथ प्रदर्शन करते रहें।

एक चरण सेवक

सिंघई गुलाबचंद

दमोह (म. प्र.)

वर्धमान
सरोवर
पर
स्थित
जल-मंदिर

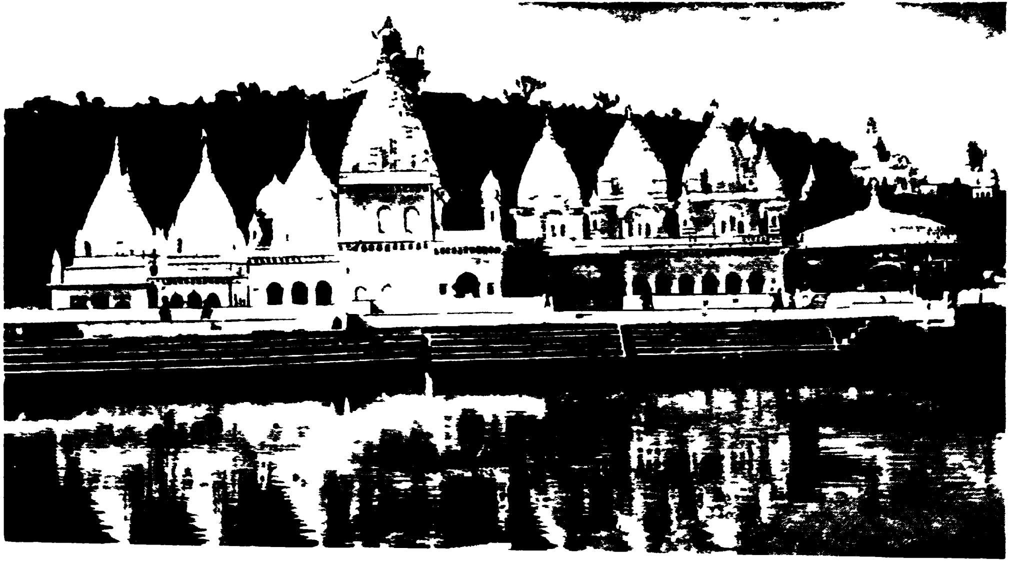

श्री दिगम्बर
जैन
सिद्ध-क्षेत्र
कुण्डलपुर जी
दमोह
(म. प्र)

आचार्य श्री का साधना स्थल –

जहाँ आचार्य श्री ने दो वर्षायोग व्यतीत कर अध्यात्म ग्रन्थ श्री समयसार जी कलश का हिन्दी पद्यानुवाद किया

पर्वत क्षेत्र का विहंगम दृश्य
दि० जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर जी, ह

सम्मत्यर्थ / समीक्षा हेतु / भेंट

प्रकाशक / सम्पादक

संघ नमस्कार

卐 सवैया 卐

श्री आचार्य विद्यासागर जी

चरण जहाज बैठ मुनिवर जी भव समुद्र को तरण चले हैं
नगर-नगर से नर नारी जन झुक झुक शीश प्रणाम करे हैं
अष्ट करम के नाश करन को निज में निज पुरुषार्थ करे हैं
ऐसे विद्यासागर मुनि के चरण कमल हम नमन करे हैं

वीना वारहा के गजरथ में बात मर्म की एक कहे हैं
इक नदिया के दोय किनारे निश्चय और व्यवहार कहे हैं
ऐसी अनुपम वाणी सुनकर जन जन जय-जयकार करे हैं
ऐसे विद्या के सागर को बार बार परणाम करे हैं

श्री एलक दर्शन सागर जी

एलक दर्शन सागर जी भी दर्श ज्ञान आरूढ़ भये हैं
द्रव्य करम का उदय देखकर भाव करम कछु नांहि करे हैं
संवर सहित निर्जरा करके मुक्ति रमा को वरण चले हैं
ऐसे ऐलक जी को लखकर भाव सहित हम नमन करे हैं

श्री एलक योग सागर जी

ऐलक योगी सागर जी भी मुद्रा सहज प्रफुल्ल धरे हैं
दर्शन ज्ञान चरण पर चलकर रत्नत्रय की ओर बढ़े हैं
आहारों में अन्तराय लख करम निर्जरा सहज करे हैं
ऐसे योगीराज को भी हम योग लगाकर नमन करे हैं

श्री क्षुल्लक नियम सागर जी

क्षुल्लक नीयम सागर जी तो नियम पाल तन क्षीण करे हैं
काय साथ इनकी नहिं दे रई पुरषारथ ये अधिक करे हैं
फिर भी ये साधक बनकर के आतम हित के काज लगे हैं
ऐसे क्षुल्लक जी को हम सब शीश नमाकर नमन करे हैं

क्षुल्लक सम्मय सागर देखो शिव नगरी की ओर चले हैं
समय-समय को कीमन करके समय सार की ओर बढ़े हैं
समय-समय पर समय सार लख कर्मन को संहार करे है
ऐसे समय सार साधक को मन वचं काया नमन करे है

श्री क्षुल्लक चारित सागर जी

क्षुल्लक चारित सागर जी भी चरित धरन की लगन करे है
केवल श्रीधर के चरणों में ध्यान लगाकर करम हरे है
बड़े बाबा के चरण कमल मे सल्लेखन की चाह करे हैं
ऐसे चारित सागर जी को चरित्र हेतु हम नमन करे हैं

समुदाय नमन

संघ सहित ये विचरण करते आतम साधना करत चले हैं
तत्व ज्ञान की चरचा करकर जीवों का अज्ञान हरे है
वीतरागता से परि पूरित है वीतराग युत चरण धरे है
ऐसे मुनी संघ को अहनिश मोक्ष हेतु हम नमन करे है

नरियल को झूठा कहके ये श्रीफल को बदनाम करे है
नगर-नगर से भव्य जनों की मोक्ष हेतु ये चाह करे है
अरु कोई भवि मिल जावे तो दीक्षा की ये बात करे हैं
ऐसे मुनी संघ को हम सब हाथ जोड नमस्कार करे हैं

नमस्कारकर्त्ता **सिंघई गुलाबचंद, दमोह**

विषयानुक्रमण

प्रथम खंड - ज्योतिर्मुख

		पृष्ठ
१.	मंगल सूत्र	१
२.	जिन शासन सूत्र	४
३.	संघ सूत्र	६
४.	निरूपण सूत्र	८
५.	संसार चक्र सूत्र	११
६.	कर्मसूत्र	१३
७.	मिथ्यात्व सूत्र	१५
८.	राग परिहार सूत्र	१६
९	धर्म सूत्र	१८
१०.	संयम सूत्र	२५
११	अपरिग्रह सूत्र	२८
१२	अहिंसा सूत्र	३०
१३.	अप्रमाद सूत्र	३३
१४.	शिक्षा सूत्र	३६
१५.	आत्म सूत्र	३७

द्वितीय खंड - मोक्ष मार्ग

१६.	मोक्षमार्ग सूत्र	४०
१७.	रत्नत्रय सूत्र	४३
१८.	सम्यक्दर्शन सूत्र	४५
१९	सम्यक्ज्ञान सूत्र	५०
२०.	सम्यक्चारित्र सूत्र	५३
२१.	भावना सूत्र	५८
२२.	द्विविध धर्म सूत्र	६०
२३.	श्रावक धर्म सूत्र	६१
२४.	श्रमण धर्म सूत्र	६७
२५.	व्रत सूत्र	७२

		पृष्ठ
२६.	समिति गुप्ति सूत्र	७६
२७.	आवश्यक सूत्र	७८
२८.	तप सूत्र	८६
२९.	ध्यान सूत्र	९४
३०.	अनुप्रेक्षा सूत्र	९८
३१.	लेश्या सूत्र	१०३
३२.	आत्म विकास सूत्र	१०६
३३	सल्लेखना सूत्र	१११

तृतीय खंड - तत्व दर्शन

३४. तत्त्व सूत्र

३५. द्रव्य सूत्र

३६. सृष्टि सूत्र

चतुर्थ खंड - स्याद्वाद

३७. अनेकान्त सूत्र

३८. प्रमाण सूत्र

३९. नय सूत्र

४०. स्याद्वाद सप्तभंगी सूत्र

४१. समन्वय सूत्र

४२. निक्षेप सूत्र

४३. समापन सूत्र

४४. वीर स्तवन

卐

जैन गीता

(समणसुत्तं का पद्यानुवाद)

१ मङ्गलसूत्र

वसन्ततिलकाछन्द

हे ! शान्त सन्त अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
हे ! शुद्ध बुद्ध जिनसिद्ध अबद्ध धाता ।
आचार्यवर्य उवझाय सुसाधु सिन्धु
मैं बार बार तुम पाद पयोज वंदूँ ॥ १ ॥

है मूलमंत्र नवकार सुखी बनाता,
जो भी पढ़े विनय से अघको मिटाता ।
है आद्य मंगल यही सब मंगलों में,
ध्याओ इसे न भटको जग जंगलों में ॥ २ ॥

सर्वज्ञदेव अरहन्त परोपकारी,
श्री सिद्ध वन्द्य परमातम निर्विकारी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार मंगल, अमंगल को निवारे ॥ ३ ॥

श्री वीतराग अरहन्त कुकर्मनाशी,
श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार उत्तम, अनुत्तम शेष सारे ॥ ४ ॥

ये बाल भानु सम हैं अरहन्त स्वामी,
लोकाग्र में स्थित सदाशिव सिद्ध नामी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार ही शरण हैं जगमें हमारे ॥ ५ ॥

जो श्रेष्ठ हैं शरण, मंगल कर्मजेता,
आराध्य हैं परम हैं शिवपंथ नेता ।
हैं वन्द्य खेचर, नरों, असुरों, सुरों के,
वे ध्येय पंच गुरु हों हम बालकों के ॥ ६ ॥

है घातिकर्मदल को जिनने नशाया,
विज्ञान पा सुख ज्वलन्त अनन्त पाया ।
है भानु भव्यजनकंज विकासते हैं,
शुद्धात्म की विजय ही, अरहन्त वे हैं ॥ ७ ॥

कर्तव्य था कर लिया कृतकृत्य दृष्टा,
हैं मुक्त कर्म तन से निज द्रव्य स्रष्टा !
है दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा से,
वे सिद्ध सिद्धिसुख दें मुझको जरा से ॥ ८ ॥

ज्ञानी, गुणी मतमतान्तर ज्ञान धारें,
सद्वाद से सहज वाद विवाद टारें ।
जो पालते परम पंच महाव्रतों को,
आचार्य वे सुमति दें हम सेवकों को ॥ ९ ॥

अज्ञानरूप तम में भटके फिरे हैं,
संसारिजीव हम हैं दुख से घिरे हैं
दो ज्ञान ज्योति उवझाय ! व्यथा हरो ना !!
ज्ञानी बनाकर कृतार्थ हमें करो ना !!! ॥१०॥

अत्यन्त शान्त विनयी समदृष्टि वाले,
शोभे प्रशस्त यश से शशि से उजाले ।
हैं वीतराग परमोत्तम शीलवाले,
वे प्राण डालकर साधु मुझे बचा लें ॥११॥

अर्हंत् अकाय परमेष्ठि विभूतियों के,
आचार्यवर्य उवझाय मुनीश्वरों के।
जो आद्य वर्ण, अ, अ, आ, उ, म को निकालो,
ओंकार पूज्य बनता, क्रमशः मिला लो ॥१२॥

आदीश हैं अजित शंभव मोक्ष धाम,
वन्दूं गुणोघ अभिनन्दन है ललाम।
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्श्व ध्याऊँ,
चन्द्रप्रभू चरण में चिति ना चलाऊँ ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि शीतल शील पुंज,
श्रेयांस पूज्य जगपूजित वासु पूज्य।
आदर्श में विमल, सन्त अनन्त, धर्म,
मैं शान्ति को नित नमूं मिल जाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ सुमल्लि स्वामी,
सद्बोध धाम मुनिसुव्रत विश्व नामी।
आराध्य देव नमि और अरिष्ट नेमी,
श्री पार्श्ववीर प्रणमूं, निज धर्म प्रेमी ॥१५॥

हैं भानु से अधिक भासुर कान्तिवाले,
निर्दोष हैं इसलिए शशिसे निराले।
गंभीर नीर निधि में जिन सिद्ध प्यारे,
संसारसागर किनार मुझे उतारें ॥१६॥

२ जिनशासन सूत्र

हो के विलीन जिसमें मनमोद पाते,
हैं भव्य जीव भव वारिधि पार जाते।
श्री जैन शासन रहे जयवन्त प्यारा,
भाई यही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय-सौख्य विरेचना है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी सुखकरी 'जिन भारती'' है ॥१८॥

जो भी लखा सहज मे अरहन्त गाया,
सत् शास्त्र बाद, गणनायक ने बनाया।
पूजूं इसे मिल गया श्रुतबोध सिन्धु,
पी, बिन्दु, बिन्दु, दृगबिन्दु समेत वन्दूँ ॥१९॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली सुवाणी,
है दोष की न मिलती जिसमें निशानी।
सो ही विशुद्ध परमागम है कहाता,
देखो वही सब पदार्थ यथार्थ गाथा ॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन आगम जो निहारें,
चारित्र भी तदनुसार सदा सुधारें।
सक्लेश भाव तज निर्मल भाव धारें,
ससारिजीवन परीत बनाय सारे ॥२१॥

हे वीतराग जगदीश कृपा करो तो,
हे विज्ञ, ज्ञान मुझ बालक मे भरो तो।
होऊं विरक्त तन से शिवमार्गगामी,
मैं केवली विमल निर्मल विश्व नामी ॥२२॥

है ओज तेज झरता मुख से शशी हैं,
गंभीर, धीर, गुण आगर हैं वशी हैं ।
वे ही स्वकीय परकीय सुशास्त्र ज्ञाता,
खोलें जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता ॥२३॥

जो भी हिताहित यहां खुद के लिए हैं,
वे ही सदैव समझो पर के लिए हैं ।
है जैन शासन यही करुणा सिखाता,
सत्ता सभी सदृश हैं सबको दिखाता ॥२४॥

३ संघसूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलंक धोता,
ना दोषधाम वह तो गुण धाम होता।
हो एकमेक जिससे दृग बोध वृत्त,
जानो सभी सतत "संघ" उसे प्रशस्त ॥२५॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को गण नित्य मानो,
है गच्छ मोक्ष पथ पे चलना सुजानो।
सत् संघ है गुण जहाँ उभरे हुए हैं,
शुद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे हैं!! ॥२६॥

आओ यहाँ अभय है भवभीत! भाई,
धोखा नहीं, न छल, शीतलता सुहाई।
माता पिता सब समा नहि भेद नाता,
लो संघ की शरण, सत्य अभेद भाता ॥२७॥

सम्यक्त्व में चरित में अति प्रौढ़ होते,
विज्ञानरूप सर में निज को डुबोते।
जो संघ में रह स्वजीवन को बिताते,
वे धन्य हैं सफल जीवन को बनाते ॥२८॥

जो भक्ति भाव रखता गुरु में नहीं है,
लज्जा न नेह भय भी गुरु से नहीं है।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा,
ओ व्यर्थ में गुरुकुली बन क्या करेगा? ॥२९॥

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर मे है,
उत्फुल्ल भी जिनप सूर्य प्रकाश से है।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे हैं,
गाते जहाँ प्रगुण केसर पी रहे हैं ॥३०॥

भाती जहाँ वह महाव्रत कर्णिका है,
ना नाप भी श्रुतमयी सुमृणालका है ।
घेरे हुए श्रमण रूप-सहस्र-पत्र,
ओ "संघ पद्म" जयवन्त रहे पवित्र ॥३१॥

•

४ निरूपणसूत्र

निक्षप और नय, पूर्ण प्रमाण द्वारा,
ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा।
तो मत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता,
होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता ॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का,
होता वही नय निजाशय ज्ञानियों का।
तू ज्ञान को समझ सत्य प्रमाण भाई,
यों युक्ति पूर्वक पदार्थ लखें, भलाई ॥३३॥

दो मूल में नय सुनिश्चय, व्यवहार,
विम्तार शेप इनका करता प्रचार।
पर्याय द्रव्य नय हैं मय दो नयों में,
होते सहायक सुनिश्चय साधने में ॥३४॥

धारें अनन्त गुण यद्यपि द्रव्य सारे,
तो भी "सुनिश्चय" अखंड उन्हें निहारे।
पै खंड, खंड कर द्रव्य अखंड को भी,
देखे कथंचित यहां "व्यवहार" सो ही ॥३५॥

विज्ञान ओ चरित-दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहें, सकल वे व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परन्तु वह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक, मोक्ष दाता,
होता निषिद्ध व्यवहार नहीं सुहाता।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी! ॥३७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया–
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ।।३८।।

भूतार्थ शुद्ध नय है निज को दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार, हमें भुलाता ।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता–
सम्यक्त्व भूषित वही मन मैल धोता ।।३९।।

जाने नहीं कि वह निश्चय चीज क्या है
हैं मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है ।
वे मूढ़ नित्य रट निश्चय की लगाते
चारित्र नष्ट करते, भव को बढ़ाते ।।४०।।

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी संभाले ।।४१।।

हैं कौन से श्रमण के परिणाम कैसे,
कोई पता नहिं बता सकता कि ऐसे ।
तल्लीन हों यदि महाव्रत पालने में
वे वन्द्य हैं नित नमूं व्यवहार में मैं ।।४२।।

वे ही मृषा नय करे पर की उपेक्षा,
एकान्त से स्वयम की रखते अपेक्षा ।
सच्चे सदैव नय वे पर को निभा लें
बोलें परस्पर मिलें व गले लगा लें ।।४३।।

उत्सर्ग मार्ग निज में निजका विहारा,
शास्त्रादि साधन रखो अपवाद न्यारा।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा,
धारो यथोचित इन्हें सुख हो अपारा ॥४४॥

•

समन्तमुख

५ संसार चक्र सूत्र

संसार शाश्वत नहीं ध्रुव है न भाई,
पाऊँ निरन्तर यहां दुख, ना भलाई।
तो कौन सी विधि विधान सुयुक्तियां रे!
छूटे जिसे कि मम दुर्गति पंक्तियां रे! ॥४५॥

ये भोग काम मधु-लिप्त कृपाण से हैं,
देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से हैं।
संसार पक्ष रखते सुख के विरोधी,
हैं पाप धाम, इनसे मिलती न बोधि ॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे,
पाया न सार इनमें मन को विदारे।
रे! छान बीन कर लो तुम बार बार,
निस्सार भून कदली तरु में न सार ॥४७॥

प्रारम्भ में अमृत सो सुख शान्तिकारी,
दें अन्त में अमित दारुण दुःख भारी।
भूपाल-इन्द्रपदवी सुर सम्पदायें।
छोड़ो इन्हें विषम ये दुख आपदायें ॥४८॥

ज्यों तीव्र खाज चलती खुजली खुजाते
रोगी तथापि दुख को सुख ही बताते।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे,
त्यों काम जन्य दुख को सुख ही पुकारें ॥४९॥

संभोग में निरत, सन्मति से परे हैं,
जो दुःख को सुख गिनें, भ्रम में परे हैं।
वे मूढ़ कर्म-मल में फसते वृथा है,
मक्खी गिरी तड़पती कफ में यथा है ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से,
ऐसा सभी समझते, सहसा सदा से ।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नहीं है,
मायामयी सुदृढ़ गांठ खुली नहीं है ।।५१।।

संसारि जीव जितने फिरते यहां हैं
वे राग रोष करते दिखते सदा हैं।
दुष्टाष्ट कर्म जिससे अनिवार्य पाते,
है कर्म के वहन से गति चार पाते ।।५२।।

पाते गीत महल देह उन्हें मिलेंगी,
वे इन्द्रियां खिड़कियां जिसमें खुलेंगी ।
होगा पुनः विषय सेवन इन्द्रियों से,
रागादिभाव फिर हो जग जन्तुओं से ।।५३।।

मिथ्यात्व के वश अनादि अनन्त मानो,
सम्यक्त्व के वश अनादि सुसान्त जानो ।
संसारिजीव इस भांति विभाव धारें,
वे धन्य है तज इन्हें शिव को पधारें ।।५४।।

लो ! जन्म से, नियम से, दुख जन्म लेते,
मारी जरा मरण भी अति दुःख देते ।
संसार ही ठस ठसा दुख से भरा है,
पाड़ा चराचर सहे सुख ना जरा है ।।५५।।

६ कर्म-सूत्र

जो भी जहाँ जब जभी जिस भांति भाता,
विज्ञान में तब तभी उस भांति आता।
जो अन्यथा समझता करता बताता,
कुज्ञान ही वह सदा सबको सताता ॥ ५६ ॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे,
तो कर्म बन्धन बिना बच जाय कैसे ? ।
भाई ! शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते,
हैं जीव संग बँधते, तब वे सताते ॥ ५७ ॥

जो काय से वचन से मद मत्त होता,
लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता।
त्यों राग रोष वश है वसु कर्म पाता,
ज्यों सर्प, जो कि द्विमुखी, मृण नित्य खाता ॥ ५८ ॥

माता पिता सुत सुतादिक साथ देते,
आपत्ति में न सब वे दुख बाँट लेते।
जो भोगता करम को करता अकेला,
औचित्य कर्म बनता उसका सुचेला ॥ ५९ ॥

है बन्ध के समय जीव स्वतन्त्र होते,
हो कर्म के उदय में परतन्त्र रोते।
जैसे मनुष्य तरु पे चढ़ते अनूठे,
पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥ ६० ॥

हो जीव को सबल कर्म कभी सताता,
तो कर्म को सहज जीव कभी दबाता।
देता धनी धन अरे ! जब निर्धनी को,
होता बली, ऋण ऋणी जब दे धनी को ॥ ६१ ॥

सामान्य से करम एक, वही द्विधा है,
हैं द्रव्य कर्म जड़, चेतन से जुदा है।
जो कर्म शक्ति अथवा रति-रोष-भाव,
है भावकर्म जिससे कर लो बचाव ॥ ६२ ॥

शुद्धोपयोगमय आतम को निहारें,
वे साधु इन्द्रियजयी मन मार डारें।
ना कर्म रेणु उनपे चिपके कदापि,
ना देह धारण करें फिर अपापी ॥ ६३ ॥

ना ज्ञान–आवरण से सब जानना हो,
ना दर्शनावरण से सब देखना हो।
है वेदनीय सुख दुःख हमें दिलाता,
है मोहनीय उलटा जगको दिखाता ॥ ६४ ॥

ना आयु के उदय से, तन-जेल छूटे,
है नाम कर्म रचता, बहुरूप झूठे।
है उच्च-नीच-पददायक गोत्र कर्म,
तो अन्तराय वश ना बनता सुकर्म ॥ ६५ ॥

संक्षेप से समझ लो तुम अष्ट कर्म,
सद्धर्म से सब सधे शिव-शान्ति शर्म।
होती इन्हीं सम सदा वसु कर्म चाल,
कर्मानुसार समझो, पट द्वारपाल।
औ खड्ग, मद्य, हलि, मौलिक चित्रकार,
है कुम्भकार क्रमशः वसु कोषपाल ॥ ६६ ॥

७ मिथ्यात्व सूत्र

संमोह से भ्रमित है मन मत्त मेरा,
है दीखता सुख नहीं, परितः अंधेरा।
स्वामी रुका न अबलौं गति चार फेरा,
मेरा अतः नहि हुवा शिव में बसेरा ॥ ६७ ॥

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती,
ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति।
पीयूष भी परम-पावन-पेय-प्याला,
अच्छा लगे न ज्वर में बन जाय हाला ॥ ६८ ॥

मिथ्यात्व मे भ्रमित पीकर मोह-प्याला,
ज्वालामुखी तरह तीव्र कषाय वाला।
माने न चेतन अचेतन को जुदा जो,
होता नितान्त बहिरातम है मुधा ओ ॥ ६९ ॥

तत्वानुकूल यदि जो चलता नही है,
मिथ्यात्व चीज इससे बढ़ कौनसी है।
कर्त्तव्यमूढ़, पर को वह हैं बनाता,
मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिखाता ॥ ७० ॥

८ राग परिहार सूत्र

है कर्म के विषम बीज सराग रोष,
समोह मे करम हो बहु दोष कोष।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो
ये दुःख मूल, इनकी कब निर्जरा हो ? ॥ ७१ ॥

हो क्रूर, शूर, मशहूर, जरूर बैरी,
हानी तथापि उससे उतनी न तेरी।
ये राग रोष तुझको जितनी व्यथा दें–
कोई न दें, अब इन्हें दुख दे मिटा दे ॥ ७२ ॥

ससार सागर असार अपार खारा,
ससारि को सुख यहाँ न मिला लगारा।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्यारा,
ना जन्म मृत्यु जिसमें सुख का न पारा ॥ ७३ ॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना,
चाहो नहीं यदि यहाँ अब दुःख पाना।
धोखा न दो स्वयम को टल जाय मौका,
बैठो सुशीघ्र तप-संयम-रूप नौका ॥ ७४ ॥

सम्यक्त्वरूप गुण को सहसा मिटाते,
चारित्र रूप पथ मे बुध को डिगाते।
ये पाप ताप मय है रति राग रोष,
हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥ ७५ ॥

भोगाभिलाष वश ही वस भोगियों को,
होता असह्य दुख है सुर-मानवों को।
ना साधु मानसिक कायिक दुःख पाते,
वे वीतराग बन जीवन है बिताते ॥ ७६ ॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है,
ओ कार्य आर्य करते, अविलम्ब मे है।
जो हैं विरक्त तन से भव पार जाते,
आसक्त भोग तन में भव को बढ़ाते ॥ ७७ ॥

है राग रोष दुख, पं न पदार्थ सारे,
वे बार बार मन में बुध यों विचारे।
तृष्णा अतः विषय की पड़ मद जाती,
जाती विमोह ममता, ममता सुहाती ॥ ७८ ॥

मैं शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला।
रे ! देह नेह करना अति दुःख पाना,
छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥ ७९ ॥

मोक्षार्थ ही दमन हो सब इन्द्रियों का,
वैराग्य मे शमन क्रोध कषायियों का।
हो कर्म आगमन-द्वार नितान्त बन्द,
शुद्धात्म को नमन हो नहि कर्म बन्ध ॥ ८० ॥

ज्यों शोभता जलज जो जलमे निराला,
त्यों वीतराग मुनि भी तन मे स्वशाला।
होता विरक्त भव में रहता यही है,
रंगीन में न रचता पचता नहीं है ॥ ८१ ॥

६ धर्म सूत्र

पाता सदैव तप संयम में प्रशंसा,
औ धर्म मंगलमयी जिसमें अहिंसा।
जो भी उसे विनय से उर में बिठाते,
सानन्द देव तक भी उनको पुजाते ॥ ८२ ॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव,
सच्ची क्षमादि दशलक्षण धर्म-नाव।
ज्ञानादि रत्न त्रय धर्म, सुखी बनाता,
है विश्व धर्म त्रस थावर प्राणि-त्राता ॥ ८३ ॥

प्यारी क्षमा, मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच्य सयम धरो, तप में भलाई।
त्यागो परिग्रह, अकिंचन गीत गा लो,
लो! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥ ८४ ॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरों सुरों से,
या खेचरों पशुगणों जन दानवों से।
उद्दीप्त हो न उठती यदि क्रोध ज्वाला,
मानो उसे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥ ८५ ॥

प्रत्येक काल सब को करता क्षमा मैं,
सारे क्षमा मुझ करे नित मागता मैं।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो वैर भाव किससे जब है न वैरी ॥ ८६ ॥

मैने प्रमाद वश दुःख तुम्हें दिया हो,
किंवा कभी यदि अनादर भी किया हो।
ना शल्य मान मन में रखता वृथा मै,
हूँ मांगता विनय से तुमसे क्षमा मैं ॥ ८७ ॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी सुशील अति सुन्दर हूँ तपस्वी।
ऐसा नहीं श्रमण हो, मन मान लाते,
निर्भ्रान्त वे परम मार्दव धर्म पाते॥ ८८॥

देता न दोष पर को, गुण ढूंढ़ लेता,
निन्दा करे स्वयम की, मन अक्ष जेता।
मानी वही नियम से गुणधाम ज्ञानी,
कोई कभी गुण बिना बनता न मानी॥ ८९॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहुबार पाया,
पा, नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया।
मैं उच्च की इसलिए करता न इच्छा,
स्थाई नहीं क्षणिक चंचल उच्च नीचा॥ ९०॥

आचार में वचन में व विचार में भी,
जो धारता कुटिलता नहिं स्वप्न में भी।
योगी वही सहज आर्जव धर्म पाता,
ज्ञानी कदापि निज दोष नहीं छिपाता॥९१॥

मिश्री मिले वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को।
कल्याण हो स्व पर का मुनि बोलता है,
हो सत्य धर्म उसका दृग खोलता है॥ ९२॥

हो चोर चौर्य करता विषयाभिलाषी,
पाता त्रिकाल दुख हाय असत्य भाषी।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता,
सत्यावलम्बन सदीव सुखी बनाता॥ ९३॥

मार्धमि के वचन आज नहीं सुहाते,
हैं पथ्यरूप, फलतः कटु दीख पाते।
पीते अतीव कड़वी लगती दवाई,
नीरोगता फल मिले, मति मुस्कुराई॥ ९४॥

विश्वास पात्र जननी सम सत्यवादी,
हो पूजनीय गुरु सादृश अप्रमादी।
वे विश्वको स्वजन भांति सदा सुहाते,
वन्दूँ उन्हें सतत मैं शिर को झुकाते॥ ९५॥

ज्ञानादि मौलिक सभी गुण वे अनेकों,
है सत्य में निहित संयम शील देखो!
आवास ज्यों जलधि है जलजीवियों का
त्यों सत्य धर्म जग में सब सद्गुणों का॥ ९६॥

ज्यों ज्यों विकास धन का क्रमशः बढ़ेगा,
त्यों त्यों प्रलोभ बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा।
सम्पन्न कार्य कण से जब जो कि पूरा,
होता वही न मन में रहता अधूरा॥ ९७॥

पा सैंकड़ों कनक निर्मित पर्वतों को,
होगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियों को।
आकाश है वह अनन्त अनन्त आशा
आशा मिटे, सहज हो परितः प्रकाशा॥ ९८॥

ज्यों मोह से जनम, तामस लोभ का हो
त्यों लोभ से दुरित कारण मोह का हो।
ज्यों वृक्ष ओ! उपजता उस बीज से है,
त्यों बीज जो उपजता इस वृक्ष से है॥ ९९॥

सन्तोष धार, समता जल से विरागी,
धोते प्रलोभ मल को बुध सन्त त्यागी।
लिप्सा नही अशन में रखते कदापि,
हो शौच्य धर्म उनका, तज पाप पापी ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है,
है योग रोध करना, व्रत धारना है।
सारी कषाय तजना मन मारना है,
भाई वही सकल संयम साधना है ॥१०१॥

फोड़ा कषाय घट को, मन को मरोड़ा,
है योगि ने विषय को विष मान छोड़ा।
स्वाध्याय ध्यान बल से निज को निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥१०२॥

वैराग्य धार भवभोग शरीर से ओ!
देखा स्व को यदि सुदूर विमोह से हो।
तो त्याग धर्म समझो उनने लिया है,
संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि,
जो भोगता न उनको बनता न पापी।
त्यागी वही नियम से जग में कहाता,
भोगी न भोग तजता, भव योग पाता ॥१०४॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता दुखी नहि सुखी, बस नित्य चंगा।
भाई! वही वर अकिंचन धर्म पाता,
पाता स्वकीय सुख को, अघ को खपाता ॥१०५॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोधमयी सुधा से,
मैं एक हूँ पृथक हूँ सब से सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी,
मेरी नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥१०६॥

मैं हूँ सुखी रह रहा सुख मे अकेला,
मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला।
उद्दीप्त हो यदि जले मिथिला यहां रे,
बोले "नमी" कि उसमे मम हानि क्या रे ! ॥१०७॥

निस्सार जान जिनने व्यवहार सारा,
छोड़ा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा।
ऐसा कहें सतत वे सब सन्त सच्चे,
कोई पदार्थ जग में न बुरे न अच्छे ॥१०८॥

ज्यों पद्म जो जलज हो जलमे निराला,
औ ना गले नहि सड़े रहता निहाला।
त्यों भोगमें न रचता पचता नहीं है,
है वंद्य ब्राह्मण यहां जगमें वही है ॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमें दुख को मिटाया,
तृष्णा विहीन मुनि, मोहन को नशाया।
तृष्णा विनष्ट उसमे यति जो न लोभी,
हो लोभ नष्ट उससे विन संग जो भी ॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान धारी,
है ब्रह्मचर्य उसकी वह वृत्ति सारी।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता,
हूँ बार बार उसको शिर मैं नवाता ॥१११॥

चंद्रानना, मृगदृगी, मृदुहासवाली,
लीलावती, ललित ये ललना निराली ।
देखो इन्हें, पर कभी न बनो विकारी,
मानो तभी कि हम हैं सब ब्रह्मचारी ॥११२॥

संसर्ग पा अनल का झट लाख जैसा,
स्त्री संग से पिघलता अनगार वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकान्त में विपिन में निज में जरूर ॥११३॥

कामेन्द्रिका दमन रे ! जिसने किया है,
कोई नहीं अब उसे कठिनाइयां है ।
जो धैर्य से अमित सागर पार पाता,
क्या शीघ्र से न सरिता वह तैर जाता ? ॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शील धारी,
स्त्री से बचे नर, बचे नरसे सुनारी ।
स्त्री आग है, पुरुष है नवनीत भाई,
उद्दीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई ॥११५॥

होती सुशोभित तथापि सुनारि जाति,
फैली दिगंततक है जिन-शील-ख्याति ।
ये हैं पवित्र धरती पर देवतायें,
पूजें इन्हें नित सुरासुर अप्सरायें ॥११६॥

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखो जहां विषय की लपटें अपारा ।
वे धन्य हैं यदपि पूर्ण युवा बने हैं,
सत् शील से लस रहे निज में रमे हैं ॥११७॥

जो एक, एक कर रात व्यतीत होती,
आती न लौट, जनता रह जाय रोती।
मोही अधर्म रत है, उसकी निशायें,
जाती वृथा दुखद है उलटी दिशायें ॥११८॥

ले द्रव्य को वनिक तीन चले कमाने,
जाके बसे शहर में खुलतीं दुकानें।
है विज्ञ एक उनमें धनको बढ़ाता,
है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११९॥

ओ मूढ़, मूल धनको जिसने गवाया,
सारा गया वितथ हाय! किया कराया।
ऐसा हि कार्य अबलों हमने किया है,
सद्धर्म पा उचित कार्य कहां किया है? ॥१२०॥

आत्मा स्वरूप रत आतम को जनाता,
शुद्धात्म रूप निज साक्षिक धर्म भाता।
आत्मा उसी तरह से उसको निभावे,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे सुख पास आवे ॥१२१॥

१० संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शाल्मली है,
दाहात्मिका–विषम–वैतरणी नदी है।
किंवा सुनंदन वनी मनमोहिनी है,
है काम धेनु सुखदा दुख हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दुःख सुख रूप विभाव कर्त्ता,
होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता।
आत्मा अनात्म रत ही रिपु है हमारा,
तल्लीन हो स्वयम में तब मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय स्वैरी,
स्वच्छन्द–इन्द्रिय–कषाय–निकाय वैरी।
जीतूँ उन्हे जिननियंत्रणमें रखूँ मैं,
धर्मानुसार चलके निज को लखूँ मैं ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण में प्रतापी,
मानो उसे न विजयी, वह विश्वपापी।
रे! शूर वीर विजयी जग मे वही है,
जो जीतता स्वयम को बनता सुखी है ॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा?
पूछूँ तुम्हे दुरित क्या उससे टलेगा?
भाई लड़ो स्वयम से मत दूसरों से,
छूटो सभी सहज से भव बंधनों से ॥१२६॥

अत्यन्त ही कठिन जो निज जीतना है,
कर्त्तव्य मान उसको बस साधना है।
जो जी रहा जगत में बन आत्म जेता,
सर्वत्र दिव्य सुख का वह लाभ लेता ॥१२७॥

औचित्य है न पर के वध बंधनों मे,
मैं हो रहा दमित जो कि युगों युगों से।
होगा यही उचित, संयम योग धारूं,
विश्राम है, स्वयम पे जय शीघ्र पाऊँ ॥१२८॥

हो एक मे विरति तो रति एक से हो,
प्रत्येक काल सब कार्य विवेक मे हो।
ले लो अभी तुम असंयम से निवृत्ति,
सारे करो सतत संयम में प्रवृत्ति ॥१२९॥

हैं राग रोष अघकोष नहीं सुहाते,
ये पाप कर्म, सबसे महमा कराते।
योगी इन्हें तज, जभी निज धाम जाते,
आते न लौट भव में, सुख चैन पाते ॥१३०॥

लो, ज्ञान ध्यान तप संयम साधनों को,
हे साधु! इन्द्रिय–कषाय–निकाय रोको।
घोड़ा कदापि रुकता न बिना लगाम,
ज्यों ही लगाम लगता, बनता गुलाम ॥१३१॥

चारित्र में जिन समान बने उजाले,
वे वीतराग, उपशान्त कषाय वाले।
नीचे कषाय उनको जब है गिराती,
जो हैं सराग, फिर क्या न उन्हें नचाती ? ॥१३२॥

हा! साधु भी समुपशान्त कषाय वाला,
होता कषाय वश मंद विशुद्धिवाला।
विश्वासभाजन कषाय अतः नहीं है,
जो आ रही उदय में अथवा दबी है ॥१३३॥

थोड़ा रहा ऋण, रहा व्रण मात्र छोटा,
हैं राग, आग लघु यों कहना हि खोटा।
विश्वास क्यों कि इनपे रखना बुरा है,
देते सुशीघ्र बढ़ के दुख मर्मरा हैं॥१३४॥

ना क्रोध के निकट "प्रेम" कदापि जाता,
है मानसे विनय शीघ्र विनाश पाता।
माया विनष्ट करती जग मित्रता को,
आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को॥१३५॥

क्रोधाग्नि का शमन शीघ्र करो क्षमा से
रे! मान मर्दन करो तुम नम्रता से।
धारो विशुद्ध ऋजुता मिट जाय माया,
संतोष में रति करो तज लोभ जाया॥१३६॥

ज्यों देह में सकल अंग उपांग को,
लेता समेट कछुवा, लख संकटों को।
मेधावि-लोग अपनी सब इन्द्रियों को
लेते समेट निज में भजते गुणों को॥१३७॥

अज्ञान मान वश दी कुछ ना दिखाई-
मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई।
सद्यः उसी समय ही उस की मिटाओ
आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ॥१३८॥

जो धीर धर्म रथ को रुचि से चलाता,
है ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगाता।
आराम धर्ममय जो जो जिसको सुहाता,
धर्मानुकूल विचरें मुनि मोद पाता॥१३९॥

११ अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखें विषयाभिलाषी,
वे चोर हिंसक कुशील असत्यभाषी।
संसार की जड़ परिग्रह को बताया,
यों सँग को जिनप ने मन से हटाया ॥१४०॥

जो मूढ ले परम संयम से उदासी,
धारे धनादिक परिग्रह दास दासी।
अत्यन्त दुःख सहता भवमे डुलेगा,
तो मुक्ति द्वार अवरुद्ध न ही खुलेगा ॥१४१॥

जो चित्त से जब परिग्रह को हटाता
है, बाह्यके सब परिग्रह को मिटाता।
है वीतराग समर्था अपरिग्रही है
देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व वेद त्रय हास्य विनाशकारी
ग्लानी, रती, अरति शोक कुभीति भारी।
ये नोकषाय नव चार कषायिया है
यो भीतरी जहर चौदह ग्रंथियां है ॥१४३॥

ये खेत धाम धन, धान्य, अपारराशि
शय्या विमान पशु वर्तन दास दासी;
नाना प्रकार पट, आसन पंक्तिया रे!
ये बाहरी जडमयी दस ग्रंथिया रे ॥१४४॥

अत्यन्त शांत गतकंचन नितान्त चंगा
हो अन्तरंग बहिरंग, निसंग, नंगा।
होता सुखी सतत है जिस भांति योगी
चक्री कहा वह सुखी उस भांति भोगी ॥१४५॥

ज्यों नाग अंकुश बिना वश में न आता,
खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता।
त्यों संग त्याग बिन ही सब इन्द्रियां रे !
आती कभी न वश में, तज ग्रंथियां रे॥१४६॥

१२ अहिंसा सूत्र

जानो तभी तुम सभी सहमा बनोगे,
संपूर्ण प्राणिवध को जब छोड़ दोगे।
है साम्यधर्म वह है जिसमें न हिंसा,
विज्ञान संभव कभी न, बिना अहिंसा ॥१४७॥

हैं चाहते जबकि ये जग जीव जीना,
होगा अभीष्ट किसको फिर मृत्यु पाना?
यों जान, प्राणिवध को मुनि शीघ्र त्यागें,
निर्ग्रंथरूप धरके, दिन रैन जागें ॥१४८॥

हे जीव! जीव जितने जग जी रहे है,
विख्यात वे सब चराचर नाम से है।
निर्ग्रंथ साधु बन, जान अजान में ये,
मारे कभी न उनको न कभी मराये ॥१४९॥

जैसा तुम्हें दुख कदापि नहीं सुहाता,
वैसा अभीष्ट पर को दुख हो न पाता।
जानो उन्हें निज समान दया दिखाओ,
सम्मान मान उनको मन मे दिलाओ ॥१५०॥

जो अन्य जीव वध है वध ओ निजी है,
भाई यही परदया स्वदया रहा है,
साधू स्वकीय हितको जब चाहते है,
वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते है ॥१५१॥

तू है जिसे समझता वध योग्य वैरी
तू ही रहा "वह" अरे यह भूल तेरी।
तू नित्य सेवक जिसे बस मानता है,
तू ही रहा 'वह" जिसे नहि जानता है ॥१५२॥

रागादि भाव उठना वह भाव हिंसा,
होना अभाव उनका समझो अहिंसा।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव हमें बताया,
कर्त्तव्यमान निजकार्य किया कराया ॥१५३॥

कोई मरो मत मरो नहि बंध नाता,
रागादिभाव वश ही द्रुत कर्म आता।
शास्त्रानुसार नय निश्चय नित्य गाता,
यों कर्म–बन्ध--विधि है, हमको बताता ॥१५४॥

है एक हिंसक तथैक असंयमी है,
कोई न भेद उनमें कहते यमी है।
हिंसा निरंतर नितान्त बनी रहेगी,
भाई जहां जब प्रमाद–दशा रहेगी ॥१५५॥

हिंसा नहीं पर उपास्य बने अहिंसा,
ज्ञानी करे मनन हो जिस की प्रशंसा।
ले लक्ष्यकर्म क्षयका बन सत्यवादी,
होता अहिंसक वही मुनि अप्रमादी ॥१५६॥

हिंसा मदीय यह आतम ही अहिंसा,
सिद्धान्त के वचन ये कर लो प्रशंसा।
ज्ञानी अहिंसक वही मुनि अप्रमादी,
हा ! सिंहसे अधिक हिंसक हो प्रमादी ॥१५७॥

उत्तुंग मेरु गिरि सा गिरि कौन सा है ?
निस्सीम कौन जगमें इस व्योम सा है ?
कोई नहीं परम धर्म बिना अहिंसा,
धारो इसे विनय से तज सर्व हिंसा ॥१५८॥

देना तुझे अभय पार्थिव शिष्य प्यारा,
तू भी सदा अभय दे जगको सहारा।
क्या मान तू कर रहा दिन रैन हिंसा!!
संसार तो क्षणिक है भज ले अहिंसा॥१५९॥

१३ अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबलौं इस को न पाना,
मैंने इसे कर लिया, न इसे कराना ।
ऐसा प्रमाद करते नहि सोचना है,
आ जाय काल कब औ न हि सूचना है ।।१६०।।

संसार में कुछ न सार असार सारे,
है सारभूत समतादिक–द्रव्य प्यारे ।
सोये हुए पुरुष ये बस सर्व खोते,
जो जागते सहज से विधि पंक धोते ।।१६१।।

सोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का,
है श्रेष्ठ "जागरण" धार्मिक सज्जनों का ।
यों वत्सदेश नृपकी अनुजा 'जयन्ती'
वाणी सुनी जिनप की वह शीलवन्ती ।।१६२।।

सोया हुवा जगत में बुध नित्य जागे,
जागे प्रबोध उर में सब पाप त्यागे ।
है काल "काल" तन निर्बल ना विवाद,
भेरुण्ड से तुम अतः तज दो प्रमाद ।।१६३।।

धाता अनेक विध आस्रव का प्रमाद,
लाता सहर्ष वर संवर अप्रमाद ।
ना हो प्रमाद तब पण्डित मोह-जेता,
होता प्रमाद वश मानव मूढ़ नेता ।।१६४।।

मोही प्रवृत्ति करते नहि कर्म खोते,
ज्ञानी निवृत्ति गहते मनमैल धोते ।
धीमान धीर धरते, धरते न लोभ,
ना पाप ताप करते करते न क्षोभ ।।१६५।।

मोही प्रमत्त बनते, भयभीत होते,
खोते स्वकीय पद को दिन रैन रोते।
योगी करे न भय को बन अप्रमत्त,
वे मस्त व्यस्त निज में नित दत्तचित्त ॥१६६॥

मोही ममत्व रखता न विराग होता,
विद्या उसे न मिलती दिन रैन सोता।
कैसे मिले सुख उसे जब आलसी है,
कैसे बने "सदय" हिंसक तामसी है ॥१६७॥

भाई सदैव यदि जागृत तू रहेगा,
तेरा प्रबोध बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा।
वे धन्य हैं सतत जाग्रत जी रहे हैं,
जो सो रहे अधम हैं विष पी रहे हैं ॥१६८॥

है देख, भाल, चलता, उठता, उठाता—
शास्त्रादि वस्तु रखता, तन को सुलाता।
है त्यागता मल, चराचर को बचाता,
योगी अहिंसक दयालु तभी कहाता ॥१६९॥

१४ शिक्षा सूत्र

पाते नही अविनयी सुख सम्पदाये,
पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये।
जानो यही अविनयी–विनयी समीक्षा,
ज्ञानी बनो सहज पाकर उच्च शिक्षा ।।१७०।।

मिथ्याभिमान करना, मनक्रोध लाना,
पाना प्रमाद, तनमे कुछ रोग आना।
आलस्यकानुभव, ये जब पच होते,
शिक्षा मिले न, हम बालक सर्व रोते ।।१७१।।

आलस्य हास्य मनरजन त्याग देना,
होना मुशील, मन--इन्द्रिय जीत लेना।
क्रोधी कभी न बनना, बनना न दोषी,
ना भूलना विषय मे न असत्य--पोषी ।।१७२।।

भाई कदापि बनना न रहस्य भेदी,
ऐसा सदैव कहते गुरु आत्मवेदी।
आ जाय आठ गुण जीवन मे किसी के,
विद्या निवास करती मुख मे उसी के ।।१७३।।

सिद्धान्त के मनन मे मन–हाथ आता,
विज्ञान भानु उगता, तमको मिटाता।
जो धर्म निष्ठ बनता, पर को बनाता,
सद्‌बोध रूप सर मे डुबकी लगाता ।।१७४।।

ससार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो,
सद्‌ध्यान मे तप तपो दृग पूर्ण खोलो।
सिद्धान्त को गुरुकुली बन के पढ़ोगे,
सद्यः सभी श्रुत विशारद जो बनोगे ।।१७५।।

जाज्वल्यमान इक दीपक से अनेकों,
हैं शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो।
आचार्य दीप सम हैं तम को मिटाते,
आलोक धाम हम को सहसा बनाते ॥१७६॥

●

१५ आत्म सूत्र

तत्वों, पदार्थ-निचयों, जड़वस्तुओं में,
है जीव ही परम श्रेष्ठ यहाँ सबों में।
भाई अनन्त गुण धाम नितान्त प्यारा,
ऐसा सदा समझ, ले निज का सहारा ॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविध है बहिरंतरात्मा,
आदेय है परम आतम है महात्मा।
दो भेद हैं परम आतम के सुजानो,
हैं वीतराग "अरहन्त सुसिद्ध" मानो ॥१७८॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम है कहाता।
चैतन्य धाम मुझसे, तन है निराला,
यों अन्तरात्म कहता, सम दृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत को बन निर्विकारी,
सर्वज्ञदेव अरहन्त शरीरधारी।
वे सिद्ध चेतन–निकेतन में बसे हैं,
सारे अनन्त सुख में सहसा लसे है ॥१८०॥

वाक्काय से मनस में ऋषि सन्त सारे,
वे हेय जान बहिरात्मपना विसारे।
हाँ ! अन्तरात्मपन को रुचि से सुधारे,
प्रत्येक काल परमातम को निहारे ॥१८१॥

संसार चंक्रमण ना कुलयोनियाँ हैं,
ना रोग, शोक, गति जाति-विजातियाँ हैं
ना मार्गना न गुणथानन की दशायें
शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥१८२॥

संस्थान, संहनन, ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण, स्पर्श, रस, गंध विकार भाई ॥
ना तीन वेद, नहि भेद, अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥१८३॥

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं,
जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं।
पै सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे! ॥१८४॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गंतदोष अयोग योगी,
निश्चित है निडर है निर्विकल्पोपयोगी,
निर्मोह, एक, नित, है सब संग त्यागी,
है देह से रहित, निर्मम, वीतरागी ॥१८६॥

सन्तोष-कोष, गतरोष, अदोष, ज्ञानी,
निःशल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, शुद्धनय से मद-मान-मुक्त।
ज्ञाता वही सकल-ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्ध नय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूँ ज्ञानवान, मन ना, तन ना, न वाणी,
होऊं नहीं करण भी उनका न मानी।
कर्त्ता न कारक न हूँ अनुमोद दाता,
धाता स्वकीय गुण का पर से न नाता ॥१८९॥

स्वामी ! जिसे स्वपर बोध भला मिला है,
सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है।
वो क्या कदापि पर को अपना कहेगा ?
ज्ञानी न मूढ़ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मै एक, शुद्धनय से दृग बोध स्वामी,
हूँ शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध अबद्ध नामी।
निर्मोह भाव करता निज लीन होऊं,
शुद्धोपयोग-जल मे विधि पंक धोऊं ॥१९१॥

卐 प्रथम खण्ड समाप्त 卐

दोहा

ज्योतिर्मुख को नित नमूं, छूटे भव-भव-जेल,
सत्ता मुझको वह दिखे ज्योति ज्योति का मेल ॥१॥

❖

१६ मोक्ष मार्गसूत्र

वैराग्य मे विमल केवल बोध पाया,
"सन्मार्ग" 'मार्गफल" को जिनने बनाया।
"सम्यक्त्वमार्ग" जिसका फल मोक्ष न्यारा,
है जैन शासन यही सुख दे अपारा ॥१९२॥

चारित्र बोध दृग है शिवपंथ प्यारा,
ले लो अभी तुम अभी इसका सहारा।
तीनो सराग जब लो कुछ बन्ध नाना,
ये वीतराग बनते, शिव पास आना ॥१९३॥

धर्मानुराग सुख दे दुख मेट देता,
ज्ञानी प्रमादवश यों यदि मान लेता।
अध्यात्म मे पतित हो पुनि पुण्य पाता,
होता विलीन पर में निज को भुलाता ॥१९४॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभालें,
ले ले भले ही तप, संयम गीत गा ले।
औ गुप्तिया समितियां कल शील पाले,
पाते न बोध दृग न बनते उजाले ॥१९५॥

जानो न निश्चय तथा व्यवहार धर्म,
बाधो सभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म।
सारी क्रिया विथन कुछ भी करो रे!
जन्मो मरो, भ्रमित हो भव मे फिरो रे। ॥१९६॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना। १९७॥

है पाप जो अशुभ भाव ही तुम्हारा,
है पुण्य सौम्य शुभभाव सभी विकारा
है निर्विकार निजभाव नितान्त प्यारा,
हो कर्म नष्ट जिससे सुख शान्तिधारा ॥१९८॥

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है,
संसार को वस अवश्य बढ़ा रहा है।
हो पुण्य से सुगति पै भव ना मिटेगा,
हो पुण्य भी गलित तो शिव जो मिलेगा ॥१९९॥

मोही कहे कि शुभभाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा,
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव, मुझे न भाता ॥२००॥

दो बेड़ियां, कनक की एक लोह की है,
ज्यों एक सी पुरुष को कस बांधती है।
हो कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवें,
त्यों बांधते नियम से जड़ जीव को वे ॥२०१॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो
संसर्ग राग इन का तज नित्य जागो,
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा
स्वाधीनता विनशती दुख ही सहेगा ॥२०२॥

अच्छा व्रतादिक तया सुर सौख्य पाना,
स्वच्छन्दता अति बुरी फिर श्वभ्र जाना।
अत्यन्त अन्तर अव्रतव्रत में रहा है
छाया-सुधूप द्वय में जितना रहा है २०३॥

चक्री बनो सुकृत से, सुर सम्पदायें,
लक्ष्मी मिले अमित दिव्य विलासतायें।
पै पुण्य से परम पावन प्राण प्यारा,
सम्यक्त्व हा! न मिलता सुख का पिटारा ॥२०४॥

देवायुपूर्ण दिवि में कर देव आते,
वे देव से अवनि पे नर योनि पाते
भोगोपभोग गह जीवन हैं बिताते
यों पुण्य का फल हमें गुरु है बताते ॥२०५॥

वे भोग भोग कर भी नहि फूलते हैं,
मक्खी समा विषय में नहि झूलते हैं।
संस्कार है विगत के जिससे सदीव
आत्मानुचिंतन सुधी करते अतीव ॥२०६॥

पाना मनुष्य भव को जिनदेशना को,
श्रद्धा समेत सुनना तप साधना को।
वे जान दुर्लभ इन्हें बुधलोक सारे,
काटे कुकर्म मुनि हो शिव को पधारे ॥२०७॥

■■
■■

१७ रत्नत्रय सूत्र (आ) व्यवहार रत्नत्रय

तत्वार्थ में रुचि हुई, दृग हो वहीं से,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता,
है मोक्ष मार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

श्रद्धान लाभ, बुध दर्शन मे लुटाता,
विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता।
चारित्र धार विधि आस्रव रोध पाता,
अत्यन्त शुद्ध निज को तप से बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के बिन, ज्ञान सारा,
सम्यक्त्व के बिन, रहा मुनि भेष भारा।
होता न संयम के बिना तप कार्यकारी,
ज्ञानादि रत्न त्रय है भव दुःख हारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के बिना ना,
होते न ज्ञान बिन मित्र! चरित्र नाना।
चारित्र के बिन न हो शिव मोक्ष पाना,
तो मोक्ष के बिन कहाँ सुख का ठिकाना ॥२११॥

हा! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है
भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है
पंगु लखें अनल को न बचे कदापि,
दौडे भले ही वह अन्ध जले तथापि ॥२१२॥

विज्ञान संयम मिले फल हाथ आता,
हो एक चक्र रथ को चल भी न पाता।
होवे परस्पर सहायक पंगु अन्धा,
दावाग्नि से बच सके कहते जिनंदा ॥२१३॥

(आ) निश्चय रत्नत्रय सूत्र

संसार में समयसार सुधा सुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा।
होता वही दृग मयी वर बोध धाम
मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र दृग बोध समेत पा लें,
आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा लें।
ज्ञानी नितान्त निज में निज को निहारें
वे अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारें ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्न त्रय में रतलीन होना,
धोना कषाय मल को बनना सलोना।
स्वीकारना न करना तजना किसी को
तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजात मलीन आत्मा
विज्ञान है समझना निज को महात्मा।
आत्मस्थ आतम पवित्र चरित्र होता,
जानो जिनागम यही अयि भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मदीय यह संयम बोध-धाम,
चारित्र दर्शनमयी समता ललाम।
है त्यागरूप सुख कूप, अनूप भूप
ना नेत्र का विषय है नित है अरूप ॥२१८॥

१८ सम्यक्दर्शन सूत्र

(अ) व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, रत्नत्रय में वर मुख्य नामी
है मूल मोक्षतरु का, तज काम कामी !
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा,
होते द्वि भेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्वार्थ में रुचि भली भव सिन्धु सेतु
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिव राह राही २२०॥

कोई न भेद, दृग में, मुनि मौन में है
माने इन्हें सुबुध 'एक' यथार्थ में है
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु
सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो अचल मेरु बनो तपस्वी,
वर्षो भले तप करो, बन के यशस्वी
सम्यक्त्व के बिन नहीं तुम बोधि पाओ
संसार में भटकते दुख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो है,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले मिजेंगे
पै भ्रष्ट दर्शन तथा नहि वे मिजेंगे ॥२२३॥

जो भी सुधा दृगमयी रुचि संग पीता,
निर्वाण पा अमर हो, चिरकाल जीता
मिथ्यात्व रूप मद पान अरे! करेगा
होगा सुखी न, भव में भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यन्त श्रेष्ठ दृग ही जग में सदा से
माना गया जड़मयी सब संपदा से
तो मूल्यवान, मणि से कब काच होता ?
स्वादिष्ट इष्ट, घृत से कब छाछ होता ?॥२२५॥

होंगे हुए परम आतम हो रहे हैं
तल्लीन आतम सुख में नित जो रहे हैं
सम्यक्त्व का सुफल केवल ओ रहा है
मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है॥२२६॥

ज्यों शोभता कमलिनि दृगमजु पत्र।
हो वीर में न सड़ता रहता पवित्र।
त्यों लिप्त हो विषय से न मुमुक्षु प्यारे
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे॥२२७॥

धारें विराग दृग जो जिन धर्म पाके,
होते उन्हें विषय, कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से,
साधु सुधी न बँधते विधि बंधनों से॥२२८।

वे भोग भोग कर भी बुध हो न भोगी,
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कार्य त्यागी,
कर्त्ता कथं फिर बने ? उनका विरागी॥२२९॥

ये काम भोग न तुम्हें समता दिलाते,
भाई ! विकार तुम में न कभी जगाते।
चाहो इन्हें यदि डरो इनसे अभी से,
पाओ प्रतीव दुख को सहसा तभी से॥२३०॥

(आ) सम्यग्दर्शन अंग

ये अष्ट अङ्ग दृग के, विनिशंकिता है,
निःकांक्षिता विमलनिर्विचिकित्सता है।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहना को,
धारो स्थितीकरण वत्सल भावना को ॥२३१॥

निःशंक हो निडर हो सम-दृष्टि वाले,
साता प्रकार भय छोड़ स्वगीत गा लें।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
है भीति हो स्वयम हो भयभीत, रोती ॥२३२

कांक्षा कभी न रखता जड़पर्ययों में,
धर्मो-पदार्थ दलके विधि के फलों में।
होता वही मुनि निकांक्षित अङ्गधारी,
वन्दूँ उन्हे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२३३॥

सम्मान पूजन न वंदन जो न चाहे,
ओ क्या कभी श्रमण हो निज ख्याति चाहे ?
हो संयमी यति व्रती निज आत्म योजी,
हो भिक्षु तापस वही उसको नमो जी ॥२३४॥

हे योगियो ! यदि भवोदधि पार जाना,
चाहो अलौकिक अपार स्वसौख्य पाना।
क्यों ख्याति लाभ निज पूजन चाहते हो?
क्या मोक्ष लाभ उनमे तुम मानते हो ? ॥२३५॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ,
सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ।
ज्ञानी न ग्लानि करते फलतः किसी से,
धारे तृतीय दृग अङ्ग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुवों में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़ दृष्टि,
नासाग्र दृष्टि रख नाशत कर्म-सृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोध दृग मे निज को सजाओ,
धारो क्षमा तप तपो विधि को खपाओ।
माया-विमोह-ममता तज मार मारो,
हो वर्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

शास्त्रार्थ गौण न करो, न उसे छुपाओ,
विज्ञान का मद घमण्ड नहीं दिखाओ।
भाई किसी सुबुध की न हँसी उड़ाओ,
आशीष दो न पर को पर को भुलाओ ॥२३९॥

ज्यों ही विकार लहरें मन में उठें तो,
तत्काल योग त्रय से उनको समेटो।
औचित्य अश्व जब भी पथ भूलता हो
ले लो लगाम कर में अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे ! भव्य गौतम ! भवोदधि तैर पाया,
क्यों व्यर्थ ही रुक गया तट पास आया !
ले ले छलांग झट से अब तो धरा पे
आलस्य छोड़ वरना दुख ही वहाँ पे ॥२४१॥

श्रद्धा समेत चलते बुध धार्मिकों की
सेवा सुभक्ति करते उनके गुणों की।
मिश्री मिले वचन जो नित बोलते हैं
वात्सल्य अङ्ग धरते, दृग खोलते हैं ॥२४२॥

योगी सुयोगरत हो गिरि हो अकम्पा,
धारो सदैव उर जीव दया अनुकम्पा।
धर्मोपदेश नित दो तज वासना दो,
ऐसा करो कि जिन धर्म प्रभावना हो॥२४३॥

वादी सुतापस निमित्त सुशास्त्र ज्ञाता,
श्री सिद्धिमान, वृष के उपदेश दाता।
विद्या-विशारद, कवीश विशेषवक्ता
होता प्रचार इनसे वृष का महत्ता॥२४४॥

१८ सम्यग्ज्ञान सूत्र

सत् शास्त्र को सुन, हिताहित बोध पाम्रो,
म्रादेय हेय समझो, सुख चूंकि चाहो।
म्रादेय को झट भजो, तज हेय भाई!
इत्थं न हो कुगति से पुनि हो सगाई ॥२४५॥

म्रादेश, ज्ञान प्रभु का शिव पंथ पंथी,
पाके स्वमें विचरते, तज सर्वग्रंथि।
सम्यक्त्व योग तप संयम ध्यान धारे,
काटें कुकर्म, निज जीवन को सुधारें ॥२४६॥

ज्यों ज्यों श्रुताम्बुनिधि में डुबकी लगाता,
त्यों त्यों बनो नव नवीन प्रमोद पाता।
वैराग्य भाव बढ़ता श्रुतभावना हो,
श्रद्धा न हो दृढ़, नहीं फिर वासना हो ॥२४७।

सूची भले ही कर से गिर भी गई हो
खोती कभी न यदि डोर लगी हुई हो।
देही ससूत्र यदि हो श्रुत बोध वाला,
होता विनष्ट भव में न रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले तुम बनो बुध मुख्य नेता,
वक्ता कवि विविध वाङ्मय वेद वेत्ता।
म्राराधना यदि नही दृग की करोगे,
तो बार-बार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा.
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा।
होगा विशारद जिनागम में भले ही
म्रात्मा स्वदीय दुख से भव में रुले ही ॥२५०॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा।
आचार्य देव कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दुःख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्वाववोधि सहसा जिससे जगेगा,
चांचल्यचित्त जिससे वश में रहेगा।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा,
होगा वही "विमल ज्ञान" स्व-सौख्य देगा ॥२५२॥

माहात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा,
रागी विराग बनता तज राग खारा।
मैत्री सदैव जग मे रखता सुचारा,
शुद्धात्म में विचरता, सुख पा अपारा ॥२५३॥

आत्मा अनन्त, नित, शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधि बन्धनों से।
ऐसा निरन्तर निजातम देखते हैं
वे ही समग्र जिनशासन जानते हैं ॥२५४॥

हूं काय से विकल, केवल केवली हूं
मैं एक हूँ विमल ज्ञायक हूँ बली हूं
जो जानता स्वयम को इस भाँति स्वामी,
निर्भ्रान्त हो वह जिनागम पारगामी ॥२५५॥

साधू समाधिरत हो निज को विशुद्ध-
जाने, बने सहज शुद्ध अवद्ध बुद्ध।
रागी स्वको समझ राग मयी विचारा,
होता न मुक्त भव से, दुख हो अपारा ॥२५६॥

जो जानते मुनि निजातम को यदा है,
वे जानते नियम से पर को तदा है,
है जानना स्वपर को इक साथ होता
ऐसा जिनागम रहा, दुख सर्व खोता ॥२५७॥

जो एक को सहज से मुनि जानते है,
वे सर्व को समझते जब जागते हैं।
यों ईश का सदुपदेश सुनो हमेशा।
सक्लेश द्वेष तज शीघ्र बनो महेशा ।२५८॥

सद्बोधि रूप सर में डुबकी लगा ले
संतप्त तू स्नपित हो सुख तृप्ति पा ले।
तो अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके
विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहे है
वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यय पा रहे है।
जो जानता यति उन्हें निज जानता है
संमोह कर्म उसका झट भागता है॥२६०॥

ज्यों बिना बांट स्वजनों नहि दूसरों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में।
पा नित्य ज्ञान-निधि, नित्य नितान्त ज्ञानी
त्यों हो सुखी, न रमता पर में अमानी॥२६१॥

卐

२० सम्यक्चारित्र सूत्र

(अ) व्यवहार चारित्र सूत्र

होते सुनिश्चय-नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप।
पै व्यावहार-नय-आश्रित ना स्वरूप
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभ को शुभ को निभाना
मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाने सदैव व्यवहारतया पुकारें ॥२६३॥

चारित्र के मुकुट से सिर ना सजोगे,
आरूढ़ संयममयी रथ पे न होगे।
स्वाध्याय में रत रहो तुम भले ही
ना मुक्ति-मंजिल मिले, दुख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रियारहित ज्ञान नहीं विराम,
मार्गज्ञ हो यदि चलो न, मिले न धाम।
किंवा नहीं यदि चले अनुकूल वात,
पाता न पोत तट को यह सत्य बात ॥२६५॥

चारित्र-शून्य नर जीवन ही व्यथा है,
तो आगमाध्ययन भी उसकी वृथा है।
अन्धा कदापि कुछ भी जब ना लखेगा
जाज्वल्यमान कर दीपक क्या करेगा? ॥२६६॥

अत्यल्प भी बहुत है श्रुत ही उन्हीं का,
जो संयमी, सतत ध्यान धरूँ उन्हीं का।
सागार का बहुत भी श्रुत बोध "भारा"
चारित्र को न जिसने उर में सुधारा ॥२६७॥

(आ) निश्चय चारित्र

आत्मार्थ आतम निजातम में समाता,
सच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता।
हे भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो
पालो अपूर्व पद को, निज को दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझ के परमोपयोगी,
है पाप पुण्य तजता घर योग योगी
औ निर्विकल्प मय चारित्र है कहाता,
मेरे समा निकट भव्यन को सुहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को लखेगा,
भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा।
तो वीतराग मय चारित से गिरेगा
ससार बीच पर चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अन्तरंग बहिरग निसग नंगा,
शुद्धात्म में विचरता जब साधु चंगा।
सम्यक्त्व बोधमय आतम देख पाता,
आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

आतापनादि तप मे तन को तपाना
अध्यात्म मे स्खलित हो व्रत को निभाना
हे मित्र! बाल तप सयम औ कहाता,
ऐसा जिनेश कहते, भव में घुमाता ॥२७२॥

लो! मास मास उपवास करे रुचि से,
अत्यल्प भोजन करे, न डरे किसी से।
पै आत्म बोध बिन मूढ़ व्रती बनेगा,
ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ में है,
साधू जिसे शममयी लख साधते हैं।
मोहादि से रहित आतम भाव प्यारा,
माना गया समय में शम साम्य सारा॥२७४॥

मध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव
चारित्र, धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव,
आराधना स्वयम की पद सात सारे
हैं भिन्न–भिन्न, पर आशय एक धारे॥२७५॥

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी,
हो वीतराग व्रत संयम में यशस्वी।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा
शुद्धोपयोग उस ही क्षण में लखेगा॥२७६॥

शुद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु
निर्वाण सिद्ध शिव भी उसको हि जानूँ।
मानूँ उसे श्रमणता मन में बिठा लूँ,
वन्दूँ उसे नित नमूँ निज को जगा लूँ॥२७७॥

शुद्धोपयोग वश साधु सुसिद्ध होते,
स्वात्मोत्थ-सातिशय शाश्वत सौख्य जोते,
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी,
अन्यत्र छोड़ जिसको सुख ना कहीं भी॥२७८॥

वे मोह राग रति रोष नहीं किसी से-
धारें सुसाम्य सुख में दुख में रुची से।
होके बुभुक्षु न हि भिक्षु मुमुक्षु होके
आते हुए सब शुभाशुभ कर्म रोके॥२७९॥

(३) समन्वय सूत्र

है वीतराग व्रत साध्य सदा सुहाता,
होता सराग व्रत साधन, साध्यदाता।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो,
संपूर्ण बोध मिलता, शिव को पधारो ॥२८०॥

ज्यों भीतरी कलुषता मिटती चलेगी,
त्यों बाहरी विमलता बढ़ती बढ़ेगी।
देही प्रदोष मन में रखता जभी है,
ओ! बाह्य दोष सहसा करता तभी है।
रे! पंक भीतर सरोवर में रहा है
जो बाह्य में जल कलंकित हो रहा है ॥२८१॥

मायाभिमान मद मोह विहीन होना,
है भाव शुद्धि, जिससे शिव सिद्धि लोना।
आलोक से सकललोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥२८२॥

जो पंच पाप तज, पावन पुण्य पाता,
हो दूर भी अशुभ से शुभ को जुटाता।
रागादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा
शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥

तो आदि में अशुभ को शुभ से मिटाओ,
शुद्धोपयोग बल से शुभ को हटाओ।
यों ही अनुक्रमण से कर कार्य योगी,
ध्याओ निजात्म-जिन को, सुख शांति होगी ॥२८४॥

चारित्र नष्ट जब हो दृग बोध घाते,
जाने सुनिश्चय सही रह वे न पाते
हो या न हो विनय पै दृग बोध का रे!
जावे चरित्र, मत यों व्यवहार का रे! ॥२८५॥

श्रद्धापुरी सुरपुरी सम जो सजाओ
ताला वहाँ सुतप संवर का लगाओ
पातालगामिनि क्षमामय खातिका हो
प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६

औ धैर्य मे धनुष-त्यागमयी सुधारो,
सद्ध्यान बान वल मे विधि को विदारो।
जेता बनो विधि रणांगन के मुनीश!
होवो विमुक्त भव मे जगदीश धीश ॥२८७

२१ साधना सूत्र

उद्बोध प्राप्त कर लो गुरु गीत गा लो,
जीतो क्षुधा विषय मे मन को बचालो ।
निद्राजयी बन दृढासन को लगा लो,
पश्चात सभी तुम निजातम ध्यान पालो २८८

संपूर्ण ज्ञान मय ज्योति शिखा जलेगा
अज्ञान मोह तम पूर्ण तभी मिटेगा।
हो नष्ट रागरति रोषमयी प्रणाली,
उत्कृष्ट सौख्य मिलता, मिटती भवाली ॥२८९॥

दु:संग मे बच जिनागम चित्त देना,
एकान्त वास करना धृतिधार लेना।
सूत्रार्थ चिंतन तथा गुरु-वृद्ध सेवा
ये ही उपाय शिव के मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना,
साथी, व्रती श्रमण या बुध को बनाना।
एकान्तवास करना भय त्याग देना,
शास्त्रानुसार मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते
क्या वैद्य औषध उन्हे कुछ काम देते ?
ना गृद्धता अशन में रखने न लिप्सा
वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२९२॥

प्राय: अतीव रससेवन हानिकारी,
उन्मत्तता उछलती उसमे विकारी।
पक्षी समूह, फल-फूल-लदे द्रुमों को,
ज्यों कष्ट दें, मदन त्यों विपदी जनों को ॥२९३

जो सर्व-इन्द्रिय जयी मित भोज पाते,
एकान्त में शयन ग्रासन भी लगाते
रागादि दोष, उनको लख कांप जाते
पीते दवा उचित, रोग विनाश पाते ॥२९४॥

ग्रा, व्याधियां न जब लौं तुमको सतातीं।
ग्राती जरा न जब लौ तन को सुखाती।
ना इन्द्रियां शिथिल हों जब लौ तुम्हारी
धारो स्वधर्म तब लौ शिव सौम्यकारी ॥२९५॥

२२ द्विविध धर्म

सन्मार्ग हैं श्रमण श्रावक भेद से दो,
उन्मार्ग शेष, उनको तज शीघ्र से दो।
मृत्युंजयी अजर है अज है बली है,
ऐसा सदा कह रहे जिन केवली हैं ॥२९६॥

"स्वाध्याय ध्यान" यति धर्म प्रधान जानो,
भाई बिना न इनके यति को न मानो।
है धर्म, श्रावक करे नित दान पूजा,
ऐसा करे न, वह श्रावक है न दूजा ॥२९७॥

होता सुशोभित सदा अपने गुणों में,
साधू सुसंस्तुत वही सब श्रावकों से।
पै साधु हो यदि परिग्रह भार धारे
सागार श्रेष्ठ उनमें गृहधर्म पारे ॥२९८॥

कोई प्रलोभवश साधु बना हुआ हो
पै शक्तिहीन व्रत पालन में रहा हो
तो श्रावकाचरण ही करता कराना,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥२९९॥

श्री श्रावकाचरण में व्रत पंच होते,
है सात शील व्रत ये विधि पंक होते।
जो एक या इन व्रतों सबको निभाना,
है भव्य श्रावक वही जग में कहाता ॥३००॥

■■

२३ श्रावकधर्म सूत्र–

चरित्र धारक गुरो ! करुणा दिखा दो,
चारित्र का विधि विधान हमें सिखा दो।
ऐसा सदैव कह श्रावक भव्य प्राणी,
चारित्र धारण करें सुन मन्न वाणी ॥३०१॥

जो सप्तधा व्यसन सेवन त्याग देते,
भाई कभी फल उदुम्बर खा न लेते।
वे भव्य दर्शनिक श्रावक नाम पाते,
धीमान धार दृग को निज धाम जाते ॥३०२॥

रे मद्यपान परनारि कुशील खोरी
अत्यन्त क्रूरतम दंड, शिकार चोरी
भाई असत्यमय भाषण द्यूत क्रीड़ा
ये सात हैं व्यसन, दें दिन–रैन पीड़ा ॥३०३

है मांस के अशन मे मति दर्प छाता,
तो दर्प से मनुज को मद पान भाता।
है मद्य पीकर जुआ तक खेल लेना
यों सर्व दोष करके दुख मोल लेना ॥३०४॥

रे मांस के अशन मे जब व्योम गामी,
आकाश मे गिर गया वह विप्र स्वामी,
ऐसी कथा प्रचलित सबने सुनी है।
वे मांस भक्षण अतः तजते गुणी हैं ॥३०५॥

जो मद्य पान करते मदमत्त होते,
वे निन्द्य कार्य करते दुख बीज बोते।
सर्वत्र दुःख सहते दिन रैन रोते,
कैसे बने फिर सुखी जिन धर्म खोते ॥३०६॥

निष्कम्प मेरू सम जो जिन भक्ति न्यारो,
जागी, विराग जननी उर मध्य प्यारी।
वे शल्यहीन बनते रहते खुशी से,
निश्चिन्त हो, निडर, ना डरते किसी से ॥३०७॥

संसार में विनय की गरिमा निराली,
है शत्रु मित्र बनता मिलती शिवाली।
धारे अतः विनय श्रावक भव्य सारे,
जावे सुशीघ्र भववारिधि के किनारे ॥३०८॥

हिंसा, मृषावचन, स्तेय कुशीये लता,
मूर्च्छा परिग्रह इन्हीं वश हो व्यथायें।
हैं पंच पाप इनका इक देश त्याग—
होता अणुव्रत, धरें जग जाय भाग ॥३०९॥

हा ! बंध छेद वध निर्बल प्राणियों का,
संरोध अन्न जल पाशव मानवों का।
क्रोधादि से मत करो टल जाय हिंसा,
जो एक देश व्रत पालक हो अहिंसा ॥३१०॥

भू-गो सुता-विषय में न असत्य लाना,
झूठी गवाह न धरोहर को दबाना।
यों स्थूल सत्य व्रत है यह पंचधारे,
मोक्षेच्छु श्रावक जिसे रुचि संग धारे ॥३११॥

मिथ्योपदेश न करो सहसा न बोलो,
स्त्री का रहस्य अथवा पर का न खोलो।
ना कूट लेखन लिखो कुटिलाइता से,
यों स्थूल सत्य व्रत धार बचो व्यथा से ॥३१२॥

राष्ट्रानुकूल चलना "कर" न चुराना,
ले चौर्य द्रव्य नहिं चोरन को लुभाना।
धंधा मिलावट करो न, अचौर्य पालो,
हा! नापतोल नकली न कभी चलालो ॥३१३॥

स्त्री मात्र को निरखते अविकारता से,
क्रीड़ा अनंग करते न निजी प्रिया से।
होते कदापि न हि अन्य-विवाह पोषी,
कामी अतीव बनते न स्वदारतोषी ॥३१४॥

निस्सीम संग्रह परिग्रह का विधाता,
है दोष का, बस रसातल में गिराता।
तृष्णा अनन्त बढ़ती सहसा उसी से,
उद्दीप्त ज्यों अनल दीपक तेल-घी से ॥३१५॥

ग्राहस्थ्य के उचित जो कुछ काम हैं
सागार सीमित परिग्रह को रखे हैं।
सम्यक्त्व धारक उसे न कभी बढ़ावें
रागाभिभूत मन को न कभी बनावें ॥३१६॥

अत्यल्प ही कर लिया परिमाण भाई!
लेऊँ पुन: कुछ जरूरत जो कि आई
ऐसा विचार तक ना तुम चित्त लाओ
संतोष धार कर जीवन को चलाओ ॥३१७॥

है सात शील व्रत श्रावक भव्य प्यारे!
सातों व्रतों फिर गुणव्रत तीन न्यारे।
देशावकाशिक दिशा विरती सुनो रे!
आनर्थ दण्ड विरती इनको गुणो रे! ॥३१८॥

सीमा विधान करना हि दसों दिशा में,
माना गया वह दिशाव्रत है धरा में।
आरम्भ सीमित बने इस कामना से,
सागार साधन करे इसका मुदा से ॥३१९॥

होते विनष्ट व्रत हो जिस देश में ही,
जाओ वहाँ मत कभी स्वप्न में भी।
देशावकाशिक वही ऋषि देशना है,
धारो उसे विनशती चिर वेदना है ॥३२०॥

है व्यर्थ कार्य करना हि अनर्थ दण्ड,
है चार भेद इसके अघदत्व अकुण्ड।
हिंसोपदेश, अति हिंसक शस्त्र देना,
दुर्ध्यान ध्यान धरना, निज मत्त होना।
होना सदुर इनमें बहु कर्म खोना,
आनर्थ दण्ड विरती तुम शीघ्र लो ना! ॥३२१॥

अत्यल्प बन्धन आवश्यक कार्य से हो,
अत्यन्त बन्ध अनवश्यक कार्य से हो।
कालादि क्यों कि इक में सहयोगी होते,
पै अन्य में जब अपेक्षित वे न होते ॥३२२॥

ज्यादा बको मत रखो अघ शस्त्र को भी,
तोड़ो न भोग परिमाण बनो न लोभी।
भद्दे कभी वचन भी हँसते न बोलो।
ना अंग व्यंग करने दृग मेच खोलो ॥३२३॥

है संविभाग अतिथि व्रत मोक्षदाता,
भोगोपभोग परिमाण सुखी बनाता।
शुद्धात्म सामयिक औपध मे दिखाता
यों चार शैक्ष्यव्रत है यह छन्द गाता ॥३२४॥

ना कन्द मूल फल फूल पत्रादि खाओ।
रे! स्वप्न में तक इन्हें मन में न लाओ।
औ क्रूर कार्य न करो, न कभी कराओ
आजीविका बन अहिंसक ही चलाओ।
यों कार्य का अशन का परिमाण बांधो,
भोगोपभोग परिमाण सहर्ष साधो ॥३२५॥

उत्कृष्ट, सामयिक से गृह धर्म भाता,
सावद्यकर्म जिससे कि विराम पाता।
यों जान मान बुध हैं अघ त्याग देते,
आत्मार्थ सामयिक साधन साध लेते ॥३२६॥

सागार सामयिक में मन ज्यों लगाता,
सच्चे सुधी श्रमण के सम साम्य पाता।
हे भव्य सामयिक को अतएव धारो,
भाई किसी तरह से निज को निहारो ॥३२७॥

आ जाय सामयिक में यदि अन्य चिंता,
तो आर्तध्यान बनता दुख दे तुरन्ता।
निस्सार सामयिक हो उसका नितान्त,
संसार हो फिर भला किस भांति सांत ?॥३२८॥

संस्कार है न तन का न कुशीलता है,
आरम्भ ना अशन प्रोषध में तथा है।
लो पूर्ण त्याग इनका इक देश या लो,
धारो सुसामायिक, प्रोषध पूर्ण[1] पालो ॥३२९॥

दो शुद्ध अन्न यति को समयानुकूल,[2]
देशानुकूल, प्रतिकूल कभी न भूल।
तो संविभाग अतिथिव्रत ओ बनेगा,
रे ! स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य देगा ॥३३०॥

आहार और अभय औषध और शास्त्र,
ये चार दान जग में सुख पूर-पात्र।
दातव्य हैं अतिथि के अनुसार चारों,
सागार शास्त्र कहता, धन को बिसारो ॥३३१॥

१ जो पूर्ण प्रोषध करता है वह नियम से सामयिक करे।
२ समय (आगम) के अनुकूल और समय (काल) के अनुकूल।

सागार मात्र इक भोजन दान से भी,
लो धन्य धन्यतम हो धनवान से भी।
दुःपात्र पात्र इस भांति विचार से क्या ?
ले आम पेट भर लें ! ! बस पेड़ से क्या ? ।।३३२।।

शास्त्रानुकूल जल अन्न दिये न जाते,
भिक्षार्थ भिक्षुक वहाँ न कदापि जाते
वे धीर वीर चलते समयानुकूल,
लेते न अन्न प्रतिकूल कदापि भूल ।।३३३।।

सागार जो अशन को मुनि को खिलाके,
पश्चात सभी मुदित हो अवशेष पाके।
वे स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य पाते,
संसार में फिर न कदापि न लौट आते ।।३३४।।

जो काल से डर रहे उनको बचाना,
माना गया अभयदान अहो सुजाना !
है चंद्रमा अभयदान ज्वलन्त दीखे,
तो शेष दान उडु है पड़ जाय फीके ।।३३५।।

२४ श्रमण धर्म सूत्र

ये वीत राग अनगार भदंत प्यारे,
साधू ऋषी श्रमण संयत सन्त सारे।
शास्त्रानुकूल चलते हमको चलाते,
वन्दूं उन्हें विनय से शिर को झुकाते ।।३३६।।

गंभीर नीर निधि से, शशि से सुशान्त,
सर्वसहा अवनि से, मणि मंजुकान्त।
तेजो मयी अरुण से, पशु से निरीह,
आकाश से निरवलम्बन ही सदीह ।।१।।

निस्संग वायु समा, सिंह समा प्रतापी,
स्थाई रहे उरग से न कहीं कदापि।
अत्यन्त ही सरल हैं मृग से, सुडोल
जो भद्र है वृषभ से गिरि से अडोल ।।२।।

स्वाधीन साधु गज सादृश स्वाभिमानी
वे मोक्ष शोध करते सुन सन्त वाणी ।।३३७।।

है लोक में कुछ यहाँ फिरते असाधु,
भाई तथापि सब वे कहलाते साधु।
मैं तो असाधु-जन को कह दूं न साधु
पै साधु के स्तवन में मन को लगा दूं ।।३३८।।

सम्यक्त्व के सदन हो वर-बोध-धाम,
शोभें सुसमतया तप से ललाम।
ऐसे विशेष गुण आकर हो सुसाधु,
तो बार-बार शिर मैं उनको नवा दूं ।।३३९।।

एकान्त मे मुनि, न कानन–वास मे हो
स्वामी नहीं श्रमण भी कचलोच मे हो।
ओंकार जाप जप, ब्राम्हण ना बनेगा,
छालादि को पहन तापस ना कहेगा ॥३४०॥

विज्ञान पा नियम में मुनि हो यशस्वी,
सम्यक्तया तप तपे तब हो तपस्वी।
होगा वही श्रमण जो समता धरेगा,
पा ब्रम्हचर्य फिर ब्राम्हण भी बनेगा ॥३४१॥

हो जाय साधु गुण, पा गुण खो असाधु,
होवो गुणी, अवगुणी न बनो न स्वादु।
जो राग रोष भर में समभाव धारें,
वे वन्द्य पूज्य निज मे निज को निहारें ॥३४२॥

जो देह में रम रहें विषयी कषायी,
शुद्धात्म का स्मरण भी करते न भाई !
वे साधु होकर बिना दृग, जी रहे हैं,
पीयूष छोड़कर हा ! विष पी रहे है ॥३४३॥

भिक्षार्थ भिक्षु चलते बहु दृश्य पाते,
अच्छे बुरे श्रवण में कुछ शब्द आते।
वे बोलते न फिर भी सुन मौन जाते
लाते न हर्ष मन में न विषाद लाते ॥३४४॥

स्वाध्याय ध्यान तप में अति मग्न होते,
जो दीर्घ काल तक हैं निशि में न सोते।
तत्वार्थ चिंतन सदा करते मनस्वी,
निद्राजयी इसलिए बनते तपस्वी ॥३४५॥

जो अग संग रखना ममता नही है,
है संग-मान तजता समता धनी है
है साम्यदृष्टि रखता सब प्राणियों मे,
ओ साधु धन्य, रमता नहि गारवों मे।।३४६।।

जो एक मे मरण जीवन को निहारे,
निन्दा मिले यश मिले सम भाव धारे।
मानापमान, सुख-दुःख समान माने,
वे धन्य साधु, सम लाभ अलाभ जाने।।३४७

आलस्य--हास्य तज शोक अशोक होते,
ना शल्य गारव कषाय निकाय ढोते।
ना भीति बंधन-निदान-विधान होते,
वे साधु वन्द्य हम को, मन मैल धोते।।३४८।।

हो अंग राग अथवा छिद जाय अंग,
भिक्षा मिलो, मत मिलो इक सार ढंग।
जो पारलौकिक न लौकिक चाह धारे,
वे साधु ही बस ! बसे उर मे हमारे।।३४९।।

है हेय भूत विधि आस्रव रोक देते,
आदेय भूत वर संवर लाभ लेते।
अध्यात्म ध्यान यम योग प्रयोग द्वारा,
है साधु लीन निज में तज भोग सारा।।३५०।।

जीतो सहो दृगसमेत परीषहों को
शीतोष्ण भीति रति प्यास क्षुधादिकों को।
स्वादिष्ट इष्ट फल कायिक कष्ट देता,
ऐसा जिनेश कहते शिव पन्थ नेता।।३५१।।

शास्त्रानुसार तब ही तप साधना हो,
ना बार बार दिन में इक बार खाओ।
ऐसा ऋषीश उपदेश सभी सुनाते,
जो भी चले तदनुसार स्वधाम जाते ॥३५२॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तन को सुखाना।
सिद्धान्त का मनन, मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ है श्रमण के बिन साम्य बाना ॥३५३॥

विज्ञान पा प्रथम, संयत भाव धारो,
रे ! ग्राम में नगर में कर दो विहारो।
संवेग शान्तिपथ पे गममान होवो,
होके प्रमत्त मत गौतम ! काल खोओ ॥३५४॥

होगा नहीं जिन यहाँ, जिन धर्म आगे,
मिथ्यात्व का जब प्रचार नितान्त जागे।
हे ! भव्य गौतम ! अतः अब धर्म पाया,
धारो प्रमाद पल भी न, जिनेश गाया ॥३५५॥

हो बाह्य भेष न कदापि प्रमाण भाई !
देता जभी तक असंयत में दिखाई।
रे वेष को बदल के विष जो कि पीता।
पाता नहीं मरण क्या -रह जाय जीता ?॥३५६॥

हो लोक को विदित ये जिन साधु आये,
शास्त्रादि साधन सुभेष अतः बनाये।
औ बाह्य संयम न, लिंग बिना चलेगा,
जो अंतरंग यम साधन भी बनेगा ॥३५७॥

ये दीखते जगत में मुनिसाधुओं के,
है भेष, नैक विध भी गृहवासियों के !
वे अज्ञ मूढ़ जिनको जब धारते हैं,
है मोक्ष मार्ग यह यों बस मानते है ॥३५८॥

निस्सार मुष्टि वह अन्दर पोल वाली—
बेकार नोट यह है नकली निराली।
हो काँच भी चमकदार सुरत्न जैसा,
ज्यों जोहरी परखता नहिं मूल्य पैसा।
पूर्वोक्त द्रव्य जिस भांति मुधा दिखाते,
है मात्र भेष उस भाँति सुधी बताते ॥३५९॥

है भाव लिङ्ग वर मुख्य अतः सुहाता,
है द्रव्य लिङ्ग परमार्थ नहीं कहाता।
है भाव ही नियम से गुण दोष हेतु,
होता भवोदधि वही भव सिन्धु सेतु ॥३६०॥

ये "भाव शुद्धतम हो" जब लक्ष होना,
है बाह्य संग तजना फलरूप होता।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
तो बाह्य त्याग उसका वह व्यर्थ जाना ॥३६१॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते।
वे भाव-शून्य करनी करते कराते,
लेते न लाभ शिव का दुख ही उठाते ॥३६२॥

कापायिकी परिणती जिसने घटा दी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटा दी।
शुद्धात्म में निरत है तज संग सांगी,
हो पूज्य साधु वह पावन भाव लिंगी ॥३६३॥

—

२५ व्रत सूत्र

हिंसादि पंच अघ हैं तज दो अघों को,
पालो सभी परमपच महाव्रतों को।
पश्चात् जिनोदित पुनीत विरागता का,
आस्वाद लो, कर अभाव विभावता का ॥३६४॥

वे ही महाव्रत नितान्त सुसाधु धारें,
निःशल्य हो विचरते त्रय शल्य टारें।
मिथ्या निदान व्रतघातक शल्य माया
ऐसा जिनेश उपदेश हमें सुनाया ॥३६५॥

है मोक्ष की यदि व्रती करता उपेक्षा,
चारित्र ले विषय की रखता अपेक्षा।
तो मूढ़ भूल मणि जो अनमोल, देता
धिक्कार कांच मणि का वह मोल लेना ॥३६६॥

जो जीव थान, कुल मार्गण योनियों में,
पा जीवबोध, करुणा रखना सबो में।
आरम्भ त्याग उनकी करता न हिंसा,
हो साधु का विमल भाव वही अहिंसा ॥३६७॥

निष्कर्ष है परम पावन आगमों का,
भाई! उदार उर धार्मिक आश्रमों का।
सारे व्रतों सदन है, सब सद्गुणों का,
आदेय है विमल जीवन साधुओं का।
है विश्वसार जयवन्त रहे अहिंसा,
होती रहे सतत ही उसकी प्रशंसा ।३६८॥

ना क्रोध भीतिवश स्वार्थ तराजु तोलो,
लेओ न मोल अघ हिंसक बोल बोलो।
होगा द्वितीय व्रत सत्य वही तुम्हारा,
आनन्द का सदन जीवन का सहारा ॥३६९॥

जो भी पदार्थ परकीय उन्हें न लेते,
वे साधु देखकर भी बस छोड़ देते।
है स्तेय भाव तक भी मन में न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥३३०॥

ये द्रव्य चेतन अचेतन जो दिखाते,
साधू न भूलकर भी उनको उठाते।
ना दाँत साफ करने तक सीक लेते,
अत्यल्प भी बिन दिये कुछ भी न लेते ॥३३१॥

भिक्षार्थ भिक्षु जब जायें, वहाँ न जायें,
जो स्थान वर्जित रहा अघ हो न पायें।
वे जायें जान कुल की मित भूमि लों ही,
अस्तेय धर्म परिपालन श्रेष्ठ सो ही ॥३३२॥

अब्रह्म सेवन अवश्य अधर्म मूल।
है दोष धाम दुख दे जिस भाँति शूल।
निर्ग्रन्थ वे इसलिए सब ग्रन्थ त्यागी,
सेवें न मैथुन कभी मुनि वीतरागी ॥३३३॥

माता सुता बहन सी लखना स्त्रियों को,
नारी कथा न करना भजना गुणों को।
श्री ब्रह्मचर्य व्रत है यह मार हन्ता,
है पूज्य वन्द्य जग में सुख दे अनन्ता ॥३३४॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित भार ढोता
है पाँचवाँ व्रत "परिग्रह त्याग" पाता,
पाता स्वकीय सुख, तू दुख क्यों उठाता? ॥३३५॥

दुर्गन्ध अंग तक "संग" जिनेश गाया,
यों देह से खुद उपेक्षित हो दिखाया।
क्षत्रादि बाह्य सब संग अतः विसारो,
होके निरीह तन से तुम मार मारो ॥३७६॥

जो मांगना नहिं पड़े गृहवासियों से,
ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्हों से।
ऐसे परिग्रह रखें उपयुक्त होवे,
पै अल्प भी अनुपयुक्त न साधु होवें ॥३७७॥

जो देह देश-श्रम-काल बलानुसार,
आहार ले यदि यती करता विहार।
तो अल्प कर्म मल से वह लिप्त होता,
औचित्य एक दिन है भव मुक्त होता ॥३७८॥

जो बाह्य में कुछ पदार्थ यहाँ दिखाते,
वे वस्तुतः नहि परिग्रह है कहाते।
मूर्छा परिग्रह परन्तु यथार्थ में है,
श्री वीर का सदुपदेश मिला हमें है ॥३७९॥

ना संग संकलन संयत हो करो रे!
शास्त्रादि साधन सुचारु सदा धरो रे।
ज्यों संग की विहग ना रखते अपेक्षा
त्यों संयमी समरसी, सबकी उपेक्षा ॥३८०॥

आहार–पान–शयनादिक खूब पाते,
पै अल्प में सकल कार्य सदा चलाते।
संतोष-कोष, गतरोष, अदोष साधु,
वे धन्य धन्यतर हैं शिर मैं नवा दूं ॥३८१॥

ना स्वप्न में न मन में न किसी दशा में,
लेते नहीं अशन वे मुनि हैं निशा में।
जिह्वाजयी जितकषाय जिताक्ष योगी,
कैसे निशाचर बनें, बनते न भोगी ॥३८२॥

आकीर्ण पूर्ण धरती जब थावरों से,
सूक्ष्मातिसूक्ष्म जग जंगम जंतुओं से;
वे रात्रि में न दिखते युग लोचनों से,
कैसे बने अशन शोधन साधुओं से ?॥३८३॥

२६ समिति गुप्ति सूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन माता

ईर्या रही समिति आद्य द्वितीय भाषा,
तीजी गवेषण धरे नश जाय आशा।
आदान निक्षिपण-पुण्यनिधान चौथा
व्युत्सर्ग पंचम रही सुन भव्य श्रोता।
कायादि भेद वश भी त्रय गुप्तियां हैं,
ये गुप्तियां समितियां जननी समा हैं ॥३८४॥

माता स्वकीय सुत की जिम भांति रक्षा,
कर्त्तव्य मान करती, बन पूर्ण दक्षा,
गुप्त्यादि अष्ट जननी उस भांति सारी,
रक्षा सुरत्नत्रय की करती हमारी ॥३८५॥

निर्दोष से चरित पालन पोषणार्थ,
उल्लेखिता समितियां गुरु से यथार्थ।
ये गुप्तियां इसलिये गुरु ने बताई,
कायादिकी परिणती मिट जाय भाई! ॥३८६॥

निर्दोष गुप्तित्रय पालक साधु जैसे,
निर्दोष हो समितिपालक ठीक वैसे।
वे तो अगुप्ति भव-मानस-मैल धोते,
ये जागते समिति-जात प्रमाद खोते ॥३८७॥

जी जाय जीव अथवा मर जाय हिंसा,
ना पालना समितियां बन जाय हिंसा।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिंसा,
तू पालता समितियां पलती अहिंसा ॥३८८॥

जो पालते समितियाँ, तब द्रव्य हिंसा,
होती रहे, पर कदापि न भाव हिंसा।
होती असंयमतया वह भाव हिंसा,
हो जीव का न वध पै बन जाय हिंसा ॥३८९॥

हिंसा द्विधा सतत वे करते कराते,
जो मत्त संयत असंयत हैं कहाते।
पै अप्रमत्त मुनि धार द्विधा अहिंसा,
होते गुणाकर, करूँ उनकी प्रशंसा ॥३९०॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता,
भाई तदा यदि मनो मर जीव जाता।
साधू तथापि नहिं है अघकर्म पाता,
दोषी न हिंसक, अहिंसक ही कहाता ॥३९१॥

संमोह को तुम परिग्रह नित्य मानो,
हिंसा प्रमाद भर को सहसा पिछानो।
अध्यात्म आगम अहो इस भांति गाता,
अध्यात्म को सतत शान्ति सुधा पिलाता ॥३९२॥

ज्यों पद्मिनी वह सचिक्कन पत्रवाली,
हो नीर में न सड़ती रहती निराली।
त्यों साधु भी समितियाँ जब पालता है,
ना पाप लिप्त बनता सुख साधना है ॥३९३॥

आचार हो समितिपूर्वक दुःख-हर्त्ता,
है धर्म-वर्धक तथा सुख-शान्ति-कर्त्ता।
है धर्म का जनक पालक भी वही है।
धारो उसे मुकति की मिलती मही है ॥३९४॥

आता यती विचरता, उठ बैठ, जाता,
हो सावधान तन को निशि में सुलाता।
औ, बोलता, अशन एषण साथ पाता,
तो पाप कर्म उसके नहि पास आता ॥३९५॥

(आ) समिति

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो।
ले स्वीय कार्य कुछ पै दिन में चलोगे,
इर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥३९६॥

संसार के विषय में मन ना लगाना,
स्वाध्याय पंच विध ना करना कराना।
एकाग्र चित्त करके चलना जभी हो,
ईर्या सही समिति है पलती तभी औ ॥३९७॥

हों जा रहे पशु यदा जल भोज पाने,
जाओ न सन्निकट भी उनके सयाने।
हे साधु! ताकि तुम से भय वे न पावें,
जो यत्र तत्र भय से नहि भाग जावे ॥३९८॥

आत्मार्थ या निजपरार्थ परार्थ साधु,
निस्सार भाषण करे न, स्वधर्म स्वादु।
बोले नहीं वचन हिंसक मर्म-भेदी,
भाषामयी समिति पालक आत्म-वेदी ॥३९९

बोलो न कर्ण कटु निन्द्य कठोर भाषा,
पावे न ताकि जग जीव कदापि त्रासा।
हो पाप बन्ध वह सत्य कभी न बोलो,
घोलो सुधा न विष में, निज नेत्र खोलो ॥४००॥

हो एक नेत्र नर को कहना न काना,
और चोर को कुटिल चोर नहीं बताना।
या रुग्ण को तुम न रुग्ण कभी कहो रे!
ना! ना! नपुंसक नपुंसक को कहो रे ॥४०१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म-शंसा,
बोले न हास्य, कटु-कर्कश-पूर्ण भाषा।
स्वामी! करे न विकथा, मितमिष्ट बोले,
भाषामयी समिति में नित ले हिलोरे ॥४०२॥

हो स्पष्ट हो विषद संशय नाशिनी हो,
हो श्राव्य भी सहज हो सुख कारिणी हो।
माधुर्य – पूर्ण मित मार्दव-मार्थ-भाषा
बोले महामुनि, मिले जिससे प्रकाशा ॥४०३॥

जो चाहता न फल दुर्लभ भव्य दाता,
साधु अयाचक यहाँ विरला दिखाता।
दोनों नितान्त द्रुत ही निज धाम जाते,
विश्रान्त हो सहज में सुख शान्ति पाते ॥४०४॥

उत्पादना-अशन-उद्गम दोष हीन–,
आवास अन्न शयनादिक ले, स्वलीन।
वे एषणा समिति साधक साधु प्यारे,
हो कोटिशः नमन ये उनको हमारे ॥४०५॥

आस्वाद प्राप्त करने बल कान्ति पाने,
लेते नहीं अशन जीवन को बढ़ाने।
पै साधु ध्यान तप संयम बोध पाने,
लेते अतः अशन अल्प अये! सयाने ॥४०६॥

गाना सुना गुण गुणा गण षट् पदों का,
पीता पराग रस फूल-फलों दलों का।
देता परन्तु उनको न कदापि पीड़ा,
होता सुतृप्त, करता दिन-रैन क्रीड़ा ॥४०७॥

दाता यथा विधि यथाबल दान देते,
देते बिना दुख उन्हें मुनि दान लेते।
यों साधु भी भ्रमर से मृदुता निभाते,
वे एषणा समिति पालक है कहाते ॥४०८॥

उद्दिष्ट, प्रासुक भले, यदि अन्न लेते,
वे साधु, दोष मल में व्रत फेंक देते।
उद्दिष्ट भोजन मिले, मुनि वीतरागी,
शास्त्रानुसार यदि ले, नहि दोषभागी ॥४०९॥

जो देखभाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से।
आदान निक्षिपण है समिति कहाती,
पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥४१०॥

एकान्त हो विजन विस्तृत ना विरोध,
सम्यक् जहां बन सके त्रस जीव शोध।
ऐसा अचित्त थल पे मलमूत्र त्यागे
व्युत्सर्गरूप-समिती गह साधु जागे ॥४११॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाना,
संसार के विषय से मन को हटाना।
होती तभी मनसगुप्ति सुमुक्ति-दात्री,
ऐसा कहें श्रमणश्री जिन शास्त्र-शास्त्री ॥४१२॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते,
सावद्य से वचन योग यती हटाते।
होती तभी वचन गुप्ति सुखी बनाती,
कैवल्य ज्योति झट मे जब जो जगाती ॥४१३॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते,
ना काय योग अघ कर्दम में फसाते।
ओ कायगुप्ति, जडकाय विनाशनी है,
विज्ञान-पंकज-निकाय विकाशती है ॥४१४॥

प्राकार ज्यों नगर की करता सुरक्षा,
किंवा सुवाड कृषि की करती सुरक्षा।
त्यों गुप्तिया परम पन्च महाव्रतों की,
रक्षा सदैव करती मुनि के गुणों की ॥४१५॥

जो गुप्तियाँ समितियाँ नित पालते है,
सम्यक्तया स्वयम को ऋषि जानते है।
वे शीघ्र बोध बल दर्शन धारते है,
संसार सागर किनार निहारते है ॥४१६॥

हो भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण।
ऐसे चरित्रगुण में पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ! ॥४१७॥

सद्ध्यान में श्रमण अन्तरधान होके,
रागादिभाव पर हैं पर भाव रोके।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जाते अवश्यक कहे उन कार्य सारे ॥४१८॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है।
होराभ सामयिक में द्युति जाग जाती
सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥४१९॥

जो साधु हो न षडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥४२०॥

सामायिकादि षडवश्यक साथ पालें
जो साधु निश्चय सुचारित पूर्ण प्यारे
वे वीतरागमय शुद्धचरित्र धारी,
पूजो उन्हें परम उन्नति हो तुम्हारी ॥४२१॥

आलोचना नियम आदिक मूर्त्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान।
स्वाध्याय ये, चरितरूप गये न माने,
चारित्र आन्तरिक आत्मिक है सयाने ! ॥४२२॥

संवेगधारक यथोचित शक्तिवाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले।
ऐसा नहीं यदि बने यह श्रेष्ठ होगा,
श्रद्धान तो दृढ़ रखो, द्रुत मोक्ष होगा ॥४२३॥

सामायिकं जिनप की स्तुति वन्दना हो,
कायोतसर्ग समयोचित साधना हो,
सच्चा प्रतिक्रमण हो अघप्रत्यख्यान
पाले मुनीश षडवश्यक बुद्धिमान ॥४२४॥

लो ! कांच को कनक को सम ही निहारे,
वैरी सरोदर जिन्हें इकसार सारे।
स्वाध्याय ध्यान करते मन मार देते,
वे साधु सामायिक को उर धार लेते ४२५॥

वाक्योग रोक जिसने मन मौन धारा,
औ वीतराग बन आतम को निहारा।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की,
पूजूं उसे, शरण और नही किसी की ॥४२६॥

आरम्भ दम्भ तजके त्रय गुप्ति पाले,
है पच इन्द्रियजयी समदृष्टि वाले।
स्थाई सुसामयिक है उनमे दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥४२७॥

है साम्यभाव रखते त्रस थावरों मे,
स्थाई सुसामयिक हो उन साधुओ मे।
ऐसे जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
भाई! अगाध भव वारिधि मध्य सेतु ॥४२८॥

आदीश आदि जिन है उन गीत गाना,
लेना सुनाम उनके यश को बढाना।
औ पूजना नमन भी करना उन्ही को,
होता जिनेश स्तव है प्रणमूं उसी को॥४२९॥

द्रव्यों थलों समयभाव प्रणालियों में,
है दोष जो लग गये, अपने व्रतों में।
वाक्काय से मनस से उनको मिटाने,
होती प्रतिक्रमण की विधि है सयाने ! ॥४३०॥

आलोचना गरहणा करता स्वनिन्दा,
जो साधु दोष करता अघ का न धन्धा।
होता प्रतिक्रमण भाव मयी वही है,
तो दोष द्रव्यमय है रुचते नही है ॥४३१॥

रागादि भावमल को मन मे हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि है निज आत्म ध्याता।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता,
सच्चा प्रतिक्रमण लाभ वही उठाता ॥४३२॥

स्वाध्याय रूप सर में अवगाह पाना,
सम्पूर्ण दोष मल को पल में धुलाना
सद्ध्यान ही विषम कल्मष पातको का,
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणो का ॥४३३॥

है देह नेह तज के जिन गीत गाते।
साधु प्रतिक्रमण है करते सुहाते।
कायोतसर्ग उनका वह है कहाता,
संसार में सहज शाश्वत शातिदाता ॥४३४॥

घोरोपसर्ग यदि हो असुरों सुरों मे,
या मानवों मृगगणों मरुतादिकों से।
कायोतसर्गरत साधु सुधी तथापि,
निस्पन्द शैल, लसते समता-सुधा पी ॥४३५॥

हो निर्विकल्प तज जल्प-विकल्प सारे,
साधु अनागत शुभाशुभ भाव टारे
शुद्धात्म ध्यान सर मे डुबकी लगाते,
वे प्रत्यख्यान गुण धारक है कहाते ॥४३६॥

जो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभाव को है।
दृष्टा बना निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता,
"मैं ही रहा वह" सुधी इस भांति गाता ।।४३७।।

जो भी दुराचरण है मुझ में दिखाता,
वाक्काय से मनस से उसको मिटाता।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं
तो बार-बार तन धार नहीं मरूँ मैं ।।४३८।।

●

२८ तप सूत्र (अ) बाह्य तप

जो ब्रम्हचर्य रहना, जिन ईश पूजा,
सारी कषाय तजना, तजना न ऊर्जा।
ध्यानार्थं अन्न तजना 'तप' ये कहाते,
प्रायः सदा भविक लोग इन्हें निभाते ॥४३९॥

है मूल में द्विविध रे ! तप मुक्तिदाता,
जो अन्तरंग बहिरंग तथा सुहाता।
हैं अन्तरंग तप के छह भेद होते
हैं भेद बाह्य तप के उतने ही होते ॥४४०॥

"ऊनोदरी" "अनशना" नित पाल रे ! तू
"भिक्षा क्रिया" रसविमोचन मोक्ष हेतु।
"संलीनता" दुःख निवारक कायक्लेश,
ये बाह्य के छह हुए कहते जिनेश ॥४४१॥

जो कर्म नाश करने समयानुसार,
है त्यागता अशन को, तन को संवार।
साधू वही अनशना तप साधता है,
होती सुशोभित तभी जग साधुता है ॥४४२॥

आहार अल्प करते श्रुत-बोध पाने,
वे तापसी समय में कहलाय शाने।
भाई बिना श्रुत उपोषण प्राण खोना।
आत्मावबोध उससे न कदापि होना ।४४३॥

ना इन्द्रियां शिथिल हों मन हो न पापी,
ना रोगकानुभव काय करे कदापि,
होती वही अनशना, जिससे मिली हो
आरोग्यपूर्ण नव चेतनता खिली हो ॥४४४॥

उत्साह-चाह-विधि-राह पदानुसार,
आरोग्य-काल-निज देह बलानुसार।
ऐसा करें अनशना ऋषि साधु सारे,
शुद्धात्म को नित निरंतर वे निहारें ॥४४५॥

लेते हुए अशन को उपवास साधें।
जो साधु इन्द्रियजयी निजको अराधें।
हों इन्द्रियाँ शमित तो उपवास होता,
धोता कुकर्म मल को, सुख को संजोता ॥४४६॥

मासोपवास करते लघु धी यमी में,
ना हो विशुद्धि उतनी, जितनी सुधी में।
आहार नित्य करते फिर भी तपस्वी,
होते विशुद्ध उर में, श्रुत में यशस्वी ॥४४७॥

जो एक-एक कर ग्रास घटा घटाना,
औ भूख से अशन को कम न्यून पाना
ऊनोदरी तप यही व्यवहार मे है,
ऐसा कहें गुरु, सुदूर बिकार मे है ॥४४८॥

दाता खड़े कलश ले हँसते मिले तो।
लेऊँ तभी अशन प्राङ्गण में मिले तो।
इत्यादि नेम मुनि ले अशनार्थ जाते,
भिक्षा क्रिया यह रही गुरु यों बताते ॥४४९॥

स्वादिष्ट मिष्ट अति [illegible] गरिष्ट खाना—
घी दूध आदि रस हैं इनको न खाना।
माना गया तप वही "रस त्याग" नामा
धारूँ उसे, वर सकूँ वर मुक्ति रामा ॥४५०॥

एकान्त में, विजन कानन मध्य जाना,
श्रद्धासमेत शयनासन को लगाना, ।
होगा वही तप सुधारस पेय प्याला,
प्यारा "विविक्त शयनासन" नाम वाला ॥४५१॥

वीरासनादिक लगा, गिरि गव्हरों में,
नाना प्रकार तपना वन कन्दरों में ।
है कायक्लेश तप, तापस तापतापी
पुण्यात्म हो धर उसे तज पाप पापी ॥४५२॥

जो तत्व बोध सुखपूर्वक हाथ आता ।
आते हि दुःख झट से वह भाग जाता ।
वे कायक्लेश समवेत अतः सुयोगी,
तत्वानुचिंतन करें समुपोपयोगी ॥४५३॥

जाना किया जब इलाज कुरोग का है,
ना दुःख हेतु सुख हेतु न रुग्ण का है ।
भाई इलाज करने पर रुग्ण को ही,
हो जाय दुःख, सुख भी सुन भव्य! मोही ! ॥४५४॥

त्यों मोहनाश सविपाकतया यदा हो,
ना दुःख हेतु सुख हेतु नहीं तदा हो ।
पै मोह के विलय में रत है वसी को,
होता कभी दुःख कभी सुख भी उसी को ॥४५५॥

(आ) आभ्यन्तर तप

"प्रायश्चिता" "विनय" औ ऋषि साधु सेवा,
"स्वाध्याय" ध्यान धरते वरबोध मेवा
व्युत्सर्ग, स्वर्ग अपवर्ग महर्घ-दाता
हैं अन्तरंग तप ये छह मोक्ष धाता ॥४५६॥

जो भाव है समितियों व्रत संयमों का,
प्रायश्चिता वह सही दस इन्द्रियों का।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता,
होऊँ अतीत विधि से विधि सो विधाता ॥४५७॥

काषायिकी विकृतियाँ मन में न लाना,
आ जाय तो जब कभी उनको हटाना।
गाना स्वकीय गुणगीत सदा सुहाती,
प्रायश्चिता वह सनिश्चय नाम पाती ॥४५८॥

वर्षों युगों भवभवों समुपार्जितों का
होता विनाश तप से भवबन्धनों का।
प्रायश्चिता इसलिए "तप" ही रहा है
त्रैलोक्य पूज्य प्रभु ने जग को कहा है ॥४५९॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमणोभया है,
व्युत्सर्ग, छेद, तप, मूल, विवेकता है।
श्रद्धान और परिहार प्रमोदकारी,
प्रायश्चिता दशविधा इस भाँति प्यारी ॥४६०॥

विक्षिप्त चित्तवश आगत दोषकों की,
हेयों अयोग्य अनभोग कृतादिकों की।
आलोचना निकट जा गुरु के करो रे।
भाई, नहीं कुटिलता उर में धरो रे! ॥४६१॥

मा को यथा तनुज, कार्य अकार्य को भी,
है सत्य, सत्य कहता, उर पाप जो भी,
मायाभिमान तज, साधु तथा अघों की–
गाथा कहें, स्वगुरु को, दुखदायकों की ॥४६२॥

हैं शल्य शूल चुभते जब पाद में जो,
दुर्वेदनानुभव पूरण अङ्ग में हो।
ज्यों ही निकाल उनको हम फेंक देते,
त्यों हो सुशीघ्र सुखसिंचित स्वास लेते ॥४६३॥

जो दोष को प्रकट ना करता छुपाता,
मायाभिभूत यति भी अति दुःख पाता।
दोषाभिभूत मन को गुरु को दिखाओ
निःशल्य हो विमल हो सुख शांति पाओ ॥४६४॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावें,
वे साम्य के सदन में सहसा सुहावें।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में
आलोचना बस यही जिन देशना में ॥४६५॥

प्रत्यक्ष-सम्मुख सुधी गुरु सन्त आते
होना खड़े, कर जुड़े शिर को झुकाते।
दे आसनादि करना गुरु भक्ति सेवा,
माना गया विनय का तप ओ सदैवा ॥४६६॥

चारित्र, ज्ञान, तप, दर्शन, औपचारी,
ये पांच हैं विनय भेद, प्रमोदकारी।
धारो इन्हें विमल निर्मल जीव होगा,
दुःखावसान, सुख आगम शीघ्र होगा ॥४६७॥

है एक का वह समादर सर्व का है,
तो एक का यह अनादर विश्व का है।
हो घात मूल पर तो द्रुम सूखता है,
दो मूल में सलिल, पूरण फूलता है ॥४६८॥

है मूल ही विनय आर्हत शासनों का,
हो संयमी विनय से घर सद्गुणों का।
वे धर्म कर्म तप भी उनके वृथा हैं,
जो दूर हैं विनय से सहते व्यथा है ॥४६९॥

उद्धार का विनय द्वार उदार भाता,
होता यही सुतप संयम-बोध-धाता।
आचार्य संघभर की इससे सदा हो,
आराधना, विनय से सुख सम्पदा हो ॥४७०॥

विद्या मिली विनय से इस लोक में भी,
देती सही सुख वहां पर लोक में भी।
विद्या न पै विनय-शून्य सुखी बनाती,
शाली, विना जल कभी फल-फूल लाती? ॥४७१॥

अल्पज्ञ किन्तु विनयी मुनि मुक्ति पाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को पल में मिटाता।
भाई अतः विनय को तज ना कदापि
सच्ची सुधा समझ के उसको सदा पी ॥४७२॥

जो अन्न पान शयनासन आदिकों को,
देना यथा समय सज्जन साधुओं को।
कारुण्य द्योतक यही भवताप हारी,
सेवामयी सुतप है शिवसौख्यकारी ॥४७३॥

साधू बिहार करते करते थके हों,
वार्धक्य की अवधि पे बस आ रुके हों।
खानादि से व्यथित हों नृप से पिटायें,
दुर्भिक्ष रोगवश पीड़ित हों सताये।
रक्षा सँभाल करना उनकी सदैवा,
जाता कहा "सुतप" तापस साधु सेवा ।।४७४।।

सद्वाचना प्रथम है फिर पूछना है,
है आनुप्रेक्ष क्रमशः परिवर्तना है।
धर्मोपदेश सुखदायक है सुधा है,
स्वाध्याय रूप तप पावन पंचधा है ।।४७५।।

आमूलतः बल लगा विधि को मिटाने,
पै ख्याति लाभ यश पूजन को न पाने।
सिद्धान्त का मनन जो करता-कराता,
पा तत्व बोध बनता सुखधाम, धाता ।।४७६।।

होते नितान्त समलंकृत गुप्तियों से,
तल्लीन भी विनय में मृदु वल्लियों मे।
एकाग्र मानस जितेंद्रिय अक्ष-जेता,
स्वाध्याय के रसिक वे ऋषि साधु नेता ।।४७७।।

सद्ध्यान सिद्धि जिन आगम ज्ञान से हो,
तो निर्जरा करम की निज ध्यान से हो।
हो मोक्ष लाभ सहसा विधि निर्जरा से
स्वाध्याय में इसलिए रम जा जरा से।।४७८।।

स्वाध्याय सा न तप है, नहिं था न होगा,
यों मानना अनुपयुक्त कभी न होगा।
सारे इसे इसलिए ऋषि सन्त त्यागी,
धारें, बनें बिगतमोह, बनें विरागी ।।४७९।।

जा बैठना शयन भी करना तथापि,
चेष्टा न व्यर्थ तन की करना कदापि।
व्युत्सर्गरूप तप है, विधि को तपाता,
पीताभ हेम सम आतम को बनाता ॥४८०॥

कायोतसर्ग तप से मिटती व्यथायें,
हो ध्यान चित्त स्थिर द्वादश भावनायें।
काया निरोग बनती मति जाड्य जाती,
संग्राम सौख्य सहने उर शक्ति आती ॥४८१॥

लोकेशनार्थ तपते उन साधुओं का,
ना शुद्ध हो तप महाकुलधारियों का।
शंसा अतः न अपने तप की करो रे!
जाने न अन्य जन यों तप धार लो रे ॥४८२॥

स्वामी समाहृत विबोध सुवान से है,
उद्दीप्त भी तपहुताशन शील से है।
वैसा कुकर्म वन को पल में जलाता,
जैसा वनानल घने वन को जलाता ॥४८३॥

२६ ध्यान सूत्र

ज्यों मूल, मुख्य द्रुम में जग में कहाता,
या देह में प्रमुख मस्तक है सुहाता।
त्यों ध्यान ही प्रमुख है मुनि के गुणों में,
धर्मों तथा सकल आचरणों व्रतों में ॥४८४॥

सद्ध्यान है मनस की स्थिरता सुधा है,
तो चित्त की चपलता त्रिवली त्रिधा है।
चिन्ताऽनुपेक्ष क्रमशः वह भावना है,
तीनों मिटें बस यही मम कामना है ॥४८५॥

ज्यों नीर में लवण है गल लीन होता,
योगी समाधि सर में लवलीन होता।
अध्यात्मिका धधकती फलरूप ज्वाला,
है नाशती द्रुत शुभाशुभ कर्म शाला ॥४८६॥

व्यापार योगत्रय का जिसने हटाया,
सम्मोह राग रति रोषन को नशाया।
ध्यानाग्नि दीप्त उसमें उठती दिखाती,
है राख राख करती विधि को मिटाती ॥४८७॥

बैठे करे स्वमुख उत्तर पूर्व में वा,
ध्याता सुधी, स्थित सुखासन से सदैवा।
आदर्श-सा विमल चारित काय वाला,
पीता समाधि-रस पूरित पेय प्याला ॥४८८॥

पल्यंक आसन लगाकर आत्म ध्याता,
नासाग्र को विषय लोचन का बनाता।
व्यापार योग त्रय का कर बन्द ज्ञानी,
उच्छ्वास श्वास गति मंद करें अमानी ॥४८९॥

गर्हा दुराचरण की अपनी करो रे !
माँगो क्षमा जगत से मन मार लो रे !
हो अप्रमत्त तब लौं निज आत्म ध्याओ,
प्राचीन कर्म जब लौं तुम ना हटाओ ॥४९०॥

निस्पंद योग जिसके, मन मोद पाता—
सद्ध्यान लीन, नहिं बाहर भूल जाता।
ध्यानार्थ ग्राम पुर हो वन काननी हो,
दोनों समान उसको, ममता धनी हो ॥४९१॥

पीना समाधि-रस को यदि चाहते हो,
जीना युगों युगयुगों तक चाहते हो।
अच्छे बुरे विषय ऐंद्रिक है तथापि,
ना रोष तोष करना, उनमें कदापि ॥४९२॥

निस्संग है निडर नित्य निरीह त्यागी,
वैराग्य भाव परिपूरित है विरागी।
वैचित्र्य भी विदित है भव का जिन्हों को,
वे ध्यान लीन रहते, भजते गुणों को ॥४९३॥

आत्मा अनन्त दृग, केवल बोध धारी,
आकार से पुरुष शाश्वत सौख्यकारी।
योगी नितान्त उसका उर ध्यान लाता।
निर्द्वन्द्व पूर्ण बनता अघ को हटाता ॥४९४॥

आत्मा तना तन, निकेतन में अपापी,
योगी उसे पृथक से लखते तथापि।
सयोग जन्य तन आदि उपाधियों को,
वे त्याग, आप अपने गुणते गुणों को ॥४९५॥

मेरे नही "पर" यहाँ पर का न मैं हूँ,
हूँ एक हूँ विमल केवल ज्ञान मैं हूँ।
यों ध्यान में सतत चिंतन जो करेगा,
ध्याता स्व का वन, सुमुक्ति रमा वरेगा ॥४९६॥

जो ध्यान में न निजवेदन को करेगा,
योगी निजी-परम-तत्व नही गहेगा।
सौभाग्यहीन नर क्या निधि पा सकेगा?
दुर्भाग्य से दुखित हो नित रो सकेगा ॥४९७॥

पिण्डस्थ आदिम पदस्थन रूप हीन,
है ध्यान तीन इनमें तुम हो विलीन।
छद्मस्थता, सुजिनता, शिवसिद्धिता ये,
तीनों ही तत् विषय है क्रमशः सुहाये ॥४९८॥

खड्गासनादिक लगा युग वीर स्वामी,
थे ध्यान में निरत अंतिम तीर्थ नामी।
वे श्वभ्र स्वर्गगत दृश्य निहारते थे,
संकल्प के बिन समाधि सुधारते थे ॥४९९॥

भोगों, अनागत गतों व तथागतों की,
कांक्षा जिन्हें न स्मृति, क्यों फिर आगतों की?
ऐसे महर्षि जन कार्मिक काय को ही,
क्षीणातिक्षीण करते बनते विमोही ॥५००॥

चिंता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख से न बोलो।
यों योग में गिरि बनो, शुभ ध्यान होता—
आत्मा निजात्मरत ही सुख बीज बोता ॥५०१॥

है ध्यान में रम रहा सुख पा रहा है,
शुद्धात्म ही बस जिसे अति भा रहा है।
पाके कषाय न कदापि दुखी बनेगा,
ईर्षा विषाद मद शोक नहीं करेगा ॥५०२॥

वे धीर साधु उपसर्ग परीषहों से,
होते न भीरु चिगते अपने पदों से।
मायामयी अमर सम्पद वैभवों में,
ना मुग्ध लुब्ध बनते निज ऋद्धियों में ॥५०३॥

वर्षो पड़ा बहुत-सा तृण ढेर चारा,
ज्यों अग्नि मे झट जले बिन देर सारा।
त्यों शीघ्र ही भव भवार्जित कर्म कूड़ा,
ध्यानाग्नि मे जल मिटे सुन भव्य मूढ़ा ॥५०४॥

३०. अनुप्रेक्षा सूत्र

स्वाधीन चित्त कर तू शुभ ध्यान द्वारा,
कर्त्तव्य आदिम यही मुनि भव्य प्यारा।
सद्ध्यान संतुलित होकर भी सदा ये,
भा भाव से सुखद द्वादश भावनायें ॥५०५॥

संसार, लोक, वृष आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व औ अशुचि, अध्रुव संवरा है,
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
चिंते सुधी सतत द्वादश भावनायें ॥५०६॥

है जन्म से मरण भी वह जन्म लेता,
वार्धक्य भी सतत यौवन साथ देता।
लक्ष्मी अतीव चपला बिजली बनी है,
संसार ही तरल है स्थिर ही नहीं है ॥५०७॥

हे ! भव्य मोहघट को झट पूर्ण फोड़ो,
सद्य:क्षयी विषय को विष मान छोड़ो।
औ चित्त को सहज निर्विषयी बनाओ,
औचित्य !! पूर्ण परमोत्तम सौख्य पाओ ॥५०८॥

अल्पज्ञ ही परिजनों धन वैभवों को,
है मानता "शरण" पाशव गोधनों को।
ये है मदीय यह मैं उनका बताता,
पै वस्तुत: शरण वे नहि प्राण त्राता ॥५०९॥

मैं संग शल्य त्रय को त्रययोग द्वारा,
हूँ हेय जान तजता जड़ के विकारा।
मेरे लिए शरण त्राण प्रमाण प्यारी,
हैं गुप्तियाँ समितियाँ भव दु:ख हारी ॥५१०॥

लावण्य का मद युवा करते सभी हैं,
पै मृत्यु पा उपजते कृमि हो वहीं है।
संसार को इसलिए बुध सन्त त्यागी,
धिक्कारते न रमते उसमें विरागी ॥५११॥

ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
मैंने न जन्म मृत दुःख जहाँ सहा हो।
तू बार बार तन धार मरा यहाँ है,
तू ही बता स्मृति तुझे उसकी कहाँ है ॥५१२॥

दुर्लंघ्य है भवपयोधि अहो ! अपारा,
अक्षुण्ण जन्म जल पूरित पूर्ण खारा।
मारी जरा मगरमच्छ यहाँ सताते,
है दुःख पाक, इसका, गुरु हैं बताते ॥५१३।

जो साधु रत्नत्रय मंडित हो सुहाता,
संसार में परम तीर्थ वही कहाता।
संसार पार करता, लख क्यों कि नौका,
हो रूढ़, रत्नत्रय रूप अनूप नौका ॥५१४॥

हे ! मित्र आप अपने विधि के फलों को,
हैं भोगते सकल जीव शुभाशुभों को
तो कौन हो स्वजन ? कौन निरा पराया ?
तू ही बता समझ में मुझको न आया ॥५१५॥

पूरा भरा दृग विबोधमयी सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से।
संयोगजन्य सब शेष विभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझमे निरे रे ॥५१६॥

संयोग भाव वश ही बहु दुःख पाया,
हूं कर्म के तपन तप्त, गया सताया।
त्यागूं उसे यतन से अब चाव से मैं,
विश्राम लूं सघन चेतन छाव में मैं ॥५१७॥

तूने भवाम्बुनिधि मज्जित आतमा की,
चिंता न की न अब लौं उस पे दया की।
पै बार बार करता मृत साथियों की,
चिंता दिवंगत हुए उन बन्धुओं की ॥५१८॥

मैं अन्य हूं तन निरा, तन से न नाता,
ये सर्व भिन्न मुझसे सुत, तात, माता।
यों जान मान बुध पंडित साधु सारे,
धारें न राग इनमें, निज को निहारें ॥५१९॥

शुद्धात्म वेदन तथा मम दृष्टि वाला,
है वस्तुतः निरखता तन को निराला।
अन्यत्व रूप उसकी वह भावना है,
भाऊँ उसे जब मुझे व्रत पालना है ॥५२०॥

निष्पन्न है जड़मयी पल हड्डियों से,
पूरा भरा रुधिर मूत्र-मलादिकों से।
दुर्गन्ध द्रव्य झरते नव द्वार द्वारा,
ऐसा शरीर फिर भी सुख दे तुम्हारा ?॥५२१॥

जो मोह-जन्य जड़ भाव विभाव सारे,
हैं त्याज्य यों समझ साधु उन्हे विसारें।
तल्लीन हो प्रशम में तज वासना को,
भावें सही परम आस्रव भावना को ॥५२२॥

वे गुप्ति औ समिति पालक अक्ष जेता,
औ अप्रमत्त परमातम तत्ववेत्ता।
हैं कर्म के विविध आस्रव रोध पाते,
है भावना परम संवर की निभाते ।।५२३।।

है लोक का यह वितान असार सारा,
संसार तीव्र गति से गममान न्यारा।
यों जान मान मुनि हो शुभ ध्यान धारो,
लोकाग्र में स्थित शिवालय को निहारो ।।५२४।।

स्वामी ! जरा मरुण-वारिधि में अनेकों,
जो डूबते बह रहें उन प्राणियों को।
सद्धर्म ही शरण है गति, श्रेय द्वीप,
पूजूं उसे शिव लसे सहसा समीप ।।५२५।।

तो भी रहा सुलभ हो वर देह पाना,
पै धर्म का श्रवण दुर्लभ है पचाना।
हो जाय प्राप्त जिससे कि क्षमा अहिंसा,
ये भिन्न-भिन्न बन जाय शरीर, हंसा ।।५२६।।

सद्धर्म का सुलभ है सुनना सुनाना,
श्रद्धान पै कठिन है उस पै जमाना।
सन्मार्ग का श्रवण भी करते तथापि,
होते कई स्खलित हैं मति मूढ़ पापी ।।५२७।।

श्रद्धान औ श्रवण भी जिन धर्म का हो,
पै संयमाचरण तो अति दुर्लभा हो।
लेते सुधी रुचि सुसंयम में कई है,
पाते तथापि उसका उसको सहसा नहीं हैं ।।५२८।।

सद्भावना वश निजातम शोभती त्यों,
निःछिद्र नाव जल में वह शोभती ज्यों।
नौका समान भव पार उतारती है,
रे! भावना अमित दुःख विनाशती है ॥५२९॥

सच्चा प्रतिक्रमण, द्वादश भावनायें,
आलोचना शुचि समाधि निजी कथायें।
भावो इन्हें, तुम निरन्तर पाप त्यागो,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे निज धाम भागो ॥५३०॥

●

३१. लेश्या सूत्र

ये पीत, पद्म शशि शुक्ल शुलेश्यकायें,
हैं धर्म ध्यान रत आतम की दशायें।
औ उत्तरोत्तर सुनिर्मल भी रही हैं,
मन्दादि भेद इनके मिलते कई हैं॥५३१॥

होती कषाय वश योग प्रवृत्ति लेश्या,
है लूटती निधि सभी जिस भाँति वेश्या।
जो कर्मबन्ध जग चार प्रकार का है,
हे मित्र ! कार्य वह योग-कषाय का है॥५३२॥

हैं कृष्ण नीलम कपोत कुलेश्यकायें,
हैं पीत पद्म सित तीन सुलेश्यकायें,
लेश्या कही समय में छह भेद वाली
ज्यों ही मिटी समझ लो मिटती भवाली॥५३३॥

मानी गई अशुभ आदिम लेश्यकायें,
तीनों अधर्म मय हैं दुख आपदायें।
आत्मा इन्हीं वश दुखी बनता वृथा है
पापी बना, कुगति जा सहता व्यथा है॥५३४॥

हैं तीन धर्ममय अंतिम लेश्यकायें,
मानी गई शुभ सुधा सुख सम्पदायें।
ये जीव को सुगति में सब भेजती हैं,
वे धारते नित इन्हें जग में व्रती हैं॥५३५॥

है तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतमा कुलेश्या,
है मन्द, मन्दतर, मन्दतमा सुलेश्या।
भाई ! तथैव छह थान विनाश वृद्धि,
प्रत्येक में बरतती इनमें, सुवृद्धि !॥५३६॥

भूले हुए पथिक थे पथ को मुधा से,
थे आर्त्त पीड़ित छहों वन में क्षुधा से।
देखा रसाल तरु फूल-फलों लदा था,
मानो उन्हें कि अशनार्थ बुला रहा था ॥

आमूल, स्कन्ध, टहनी झट काट डालें,
औ तोड़ तोड़ फल-फूल रसाल खा लें।
यों तीन दीन क्रमशः धरते कुलेश्या,
है सोचते कह रहे कर संक्लेशा ॥

है एक गुच्छ-भर को इक पक्व पाता,
तोड़े बिना पतित को इक मात्र खाता।
यों शेष तीन क्रमशः धरते सुलेश्या,
लेश्या उदाहरण ये कहते जिनेशा ॥५३७-५३८॥

ये क्रूरता अतिदुराग्रह दुष्टतायें।
सद्धर्म की विकलता अदया दशायें।
वैरत्व औ कलहभाव विभाव सारे,
है कृष्ण के दुखद लक्षण, साधु टारें ॥५३९॥

अज्ञानता विषय की अतिगृद्धतायें,
सद्बुद्धि की विकलता मतिमन्दतायें
संक्षेप में समझ, लक्षण नील के है,
ऐसे कहें, श्रमण आलय शील के है ॥५४०॥

अत्यन्त शोक करना भयभीत होना,
कर्त्तव्यमूढ़ बनना झट रुष्ट होना।
दोषी व निन्द्य पर को कहना बताना,
कापोत भाव सब ये इनको हटाना ॥५४१॥

आदेय, हेय अहिताहित-बोध होना
संसारि प्राणि भर में समभाव होना।
दानी तथा सदय हो पर दुःख खोना,
ये पीत लक्षण इन्हें तुम धार लो ना ॥५४२॥

हो त्याग भाव, नयता व्यवहार में हो।
औ भद्रता, सरलता, उर कार्य में हो,
कर्त्तव्य मान करना गुरुभक्ति सेवा,
ये पद्म लक्षण क्षमा धर लो सदैवा ॥५४३॥

भोगाभिलाष मन मे न कदापि लाना,
औ देह-नेह रति-रोपन को हटाना।
ना पक्षपात करना समता सभी में,
ये शुक्ल लक्षण मिले मुनि में सुधी में ॥५४४॥

आ जाय शुद्धि परिणाम मन में जभी से,
लेश्या विशुद्ध बनती, सहसा तभी से।
काषाय मन्द पड़ जाय अशान्तिदायी,
हो जाय आत्म परिणाम विशुद्ध भाई ॥५४५॥

३२. आत्म-विकास सूत्र

संमोह योग वश आतम में अनेकों,
होते विभिन्न परिणाम विकार देखो !
सर्वज्ञ-देव "गुण थान" उन्हें बताया,
आलोक मे सकल को जब देख पाया ।।५४६।।

मिथ्यात्व आदिम रहा गुण थान भाई,
सासादना वह द्वितीय अशान्ति दाई ।
है मिश्र है अविरती समदृष्टि प्यारी,
है एक देश विरती धरते अगारी ।

होती प्रमत्त विरती गिर साधु जाता,
हो अप्रमत्त विरती निज पास आता ।
स्वामी अपूर्व करणा दुख को मिटाती,
है आनिवृत्तिकरणा सुख को दिलाती ।।

है सांपराय अति सूक्ष्म लोभवाला,
है शान्त मोह गत मोह निरा उजाला ।
हैं केवली जिन सयोगि, अयोगि न्यारे,
इत्थं चतुर्दश सुनो ! गुण थान सारे ।।५४७-५४८।।

तत्वार्थ में न करना शुचिरूप श्रद्धा,
मिथ्यात्व है वह कहें जिन शुद्ध बुद्धा ।
मिथ्यात्व भी त्रिविध संशय नामवाला,
दूजा गृहीत, अगृहीत तृतीय हाला ।।५४९।।

सम्यक्त्वरूपगिरि से गिर तो गई है,
मिथ्यात्व की अवनि पे नहिं आ गई है ।
सासादना यह रही निचली दशा है,
मिथ्यात्व की अभिमुखी दुःख की निशा है ।।५५०।।

जैसा दही-गुड़ मिलाकर स्वाद लोगे,
तो भिन्न-भिन्न तुम स्वाद न ले सकोगे।
वैसे हि मिश्र गुणथानन का प्रभाव,
मिथ्यापना समपनाश्रित मिश्रभाव ॥५५१॥

छोड़ी अभी नहिं चराचर जीव हिंसा,
ना इंद्रियां दमित की तज भाव-हिंसा।
श्रद्धा परन्तु जिसने जिन में जमाई,
होता वही अविरती समदृष्टि भाई ॥५५२॥

छोड़ी नितान्त जिसने त्रसजीवहिंसा,
छोड़ी परन्तु नहिं थावर जीव–हिंसा।
लेता सदा जिनप पाद पयोज स्वाद,
हो एक देश विरती "अलि" निर्विवाद ॥५५३॥

धारा महाव्रत सभी जिसने तथापि,
प्राय: प्रसाद करता फिर भी अपापी।
शीलादि सर्वगुण धारक संग त्यागी,
होता प्रमत्त विरती कुछ दोष भागी ॥५५४॥

शीलाभिमंडित, व्रती गुण धार ज्ञानी,
त्यागा प्रसाद जिसने बन आत्म-ध्यानी।
पै मोह को नहि दबा न खपा रहा है,
है अप्रमत्त विरती, सुख पा रहा है॥५५५॥

जो भिन्न-भिन्न क्षण में चढ़ आठवें में,
योगी अपूर्व परिणाम करें मजे में।
ऐसे अपूर्व परिणाम न पूर्व में हो,
वे ही अपूर्व करणा गुणथान में हो ॥५५६॥

जो भी अपूर्व परिणाम सुधार पाते,
वे मोह के शमक, ध्वंसक या कहाते।
ऐसा जिनेंद्र प्रभु ने हमको बताया,
अज्ञान रूप तम को जिसने मिटाया ॥५५७॥

प्रत्येक काल इक ही परिणाम पाले,
वे अनिवृत्ति करणा गुणथान वाले।
ध्यानाग्नि से धधकती विधिकाननी को
हैं राख खाक करते, दुख की जनी को ॥५५८॥

कौसुम्ब के सदृश सौम्य गुलाब आभा,
शोभायमान जिसके उर राग आभा।
है सूक्ष्मराग दशवें गुणथान वाले,
वे वन्द्य, तू विनय से शिर तो नवा ले ॥५५९॥

ज्यों शुद्ध है शरद में सरनीर होता,
या निर्मली फल डला जल क्षीर होता।
त्यों शान्त मोह गुणधारक हो निहाला
हो मोह सत्व, पर जीवन तो उजाला ॥५६०॥

सम्मोह हीन जिसका मन ठीक वैसा–
हो स्वच्छ, हो स्फटिक भाजन नीर जैसा।
निर्ग्रन्थ साधु वह क्षीण कषाय नामी,
यों वीतराग कहते प्रभु विश्व स्वामी ॥५६१॥

कैवल्य बोध रवि जीवन में जगा है,
अज्ञानरूप तम तो फलतः भगा है।
पा लब्धियाँ नव, नवीन वही कहाता,
त्रैलोक्य पूज्य परमातम या प्रमाता ॥५६२॥

स्वाधीन बोध दृग पाकर केवली हैं,
जीता जभी स्वयम को जिन हैं बली है।
होता सयोगि जिन योग समेत ध्यानी,
ऐसा कहें अमिट अव्यय आर्षवाणी ।।५६३।।

है अष्ट कर्म मल को जिनने हटाया,
सम्यक्तया सकल आस्रव रोक पाया।
वे हैं, अयोगि जिन पावन केवली हैं,
हैं शील के सदन औ सुख के धनी है ।।५६४।।

आत्मा अतीत गुणथान बना जभी में,
सानन्द ऊर्ध्व गति है करता तभी में।
लोकाग्र जा निवसता गुण अष्ट पाता,
पाता न देह भव में नहि लौट आता ।।५६५।।

वे कर्म-मुक्त, नित सिद्ध सुशान्त ज्ञानी,
होते निरंजन न अंजन की निशानी।
सामान्य अष्ट गुण आकर हो लसे हैं,
लोकाग्र में स्थिति शिवालय में बसे हैं।५६६।।

भाई सुनो तन अचेतन दिव्य नौका,
तो जीव नाविक सचेतन है अनोखा।
संसार सागर रहा दुःख पूर्ण खारा,
हैं तैरते ऋषि महर्षि जिसे सुचारा ।।५६७।।

है लक्ष्य बिन्दु यदि शाश्वत सौख्य पाना,
जाना मना विषय में मन को बुलाना।
दे देह को उचित वेतन तू सयाने!
पाने स्वकीय सुख को विधि को मिटाने ।।५६८।।

क्या धीर, कापुरुष, कायर क्या बिचारा,
हो काल का कवल लोक नितान्त सारा।
है मृत्यु का यह नियोग, नहीं टलेगा,
तो धैर्य धार मरना, शिव जो मिलेगा ॥५६९॥

ओ एक ही मरण है मुनि पण्डितों का,
है आशु नाश करता शतशः भवों का।
ऐसा अतः मरण हो जिससे तुम्हारा,
जो बार-बार मरना, मर जाय सारा ॥५७०॥

पाण्डित्य पूर्ण मृति, पण्डित साधु पाता,
निर्भ्रान्ति हो अभय हो भय को हटाता।
तो एक साथ मरणोदधिपूर्ण पीता,
मृत्युंजयी बन तभी चिरकाल जीता ॥५७१॥

वे साधु पाश समझें लघु दोष को भी,
हो दोष ताकि न, चले रख होश को भी।
सद्धर्म और सधने तन को सँभालें,
हो जीर्ण शीर्ण तन, त्याग स्वगीत गा लें ॥५७२॥

दुर्वार रोग तन में न जरा घिरी हो,
बाधा पवित्र व्रत में नहिं आ परी हो।
तो देह त्याग न करो, फिर भी करोगे,
साधुत्व त्याग करके, भव में फिरोगे ॥५७३॥

३३. सल्लेखना सूत्र

सल्लेखना सुखद है सुख है सुधा है,
जो अंतरंग बहिरंग तथा द्विधा है।
आद्या, कषाय क्रमशः कृश ही कराना,
है दूसरी बिन व्यथा तन को सुखाना ।।५७४।।

काषायिकी परिणती सहसा हटाते,
आहार अल्प कर लें क्रमशः घटाते,
सल्लेखना व्रत सुधारक रुग्न हों वे,
तो पूर्ण अन्न तज दें, अति अल्प सोवें ।।५७५।।

एकान्त प्रासुक धरा, तृण की चटाई,
सन्यस्त के मसृण संस्तर ये न भाई।
आदर्श तुल्य जिसका मन हो उजाला,
आत्मा हि संस्तर रहा उसका निहाला ।।५७६।।

हाला तथा कुपित नाग कराल काला,
या भूत, यंत्र, विष निर्मित बाण भाला।
होते अनिष्ट उतने न प्रमादियों के,
निम्नोक्त भाव जितने शठ साधुओं के ।।५७७।।

सल्लेखना समय में तजते न माया-
मिथ्या निदान त्रय को मन में जमाया।
वे साधु आशु नहिं दुर्लभ बोधि पाते,
पाते अनन्त दुख ही भव को बढ़ाते ।।५७८।।

मायादि शल्य त्रय ही भव वृक्ष मूल,
काटें उसे मुनि सुधी अभिमान भूल।
ऐसे मुनीश पद में नतमाथ होऊँ,
पाऊँ पवित्र पद को शिवनाथ होऊँ ।।५७९।।

भोगाभिलाष समवेत कुकृष्णलेश्या,
हो मृत्यु के समय में जिसको जिनेशा।
मिथ्यात्व कर्दम फँसा उस जीव को ही,
हो बोधि दुर्लभतया, तज मोह मोही! ॥५८०॥

प्राणान्त के समय में शुचि शुक्ललेश्या,
जो धारता, तज नितान्त दुरन्त क्लेशा।
सम्यक्त्व में निरत नित्य, निदान त्यागी,
पाता वही सहज बोधि बना विरागी ॥५८१॥

सदबोधि की यदि तुम्हें चिर कामना हो,
ज्ञानादि की सतत सादर साधना हो।
अभ्यास रत्नत्रय का करना, उसी को,
आराधना वरण है करती सुधी को ॥५८२॥

ज्यों सीखता प्रथम, राजकुमार नाना-
विद्या कला असिगदादिक को चलाना।
पश्चात् वही कुशलता बल योग्य पाता,
तो धीर जीत रिपु को, जय लूट लाता ॥५८३॥

अभ्यास भूरि करता शुभ ध्यान का है,
लेता सदैव यदि माध्यम साम्य का है।
तो साधु का सहज हो मन शान्त जाता,
प्राणान्त के समय ध्यान नितान्त पाता ॥५८४॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो,
अन्यत्र, छोड़ निज को, न करो विहारो।
संबंध मोक्ष पथ मे अविलम्ब जोड़ो,
तो आप को नमन हो मम ये करोड़ों ॥५८५॥

साधू करे न मृति जीवन की चिकित्सा,
ना पारलौकिक न लौकिक भोगलिप्सा।
सल्लेखना समय में बस साम्य धारें,
संसार का अशुभ ही फल क्यों विचारें ॥५८६॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्ष दाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
देहादि में अरुचि ही शिव सौम्यकारी ॥५८७॥

(द्वितीय खण्ड समाप्त)

दोहा

'मोक्षमार्ग" पर नित चलो दुख मिट, सुख मिज जाय।
परम सुगंधित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय ॥२॥

३४. तत्त्व सूत्र

अल्पज्ञ मूढ़ जन ही भजते अविद्या,
होते दुखी, नहि सुखी तजते सुविद्या।
हो लुप्त गुप्त भव में बहुवार तातें,
कल्लोल ज्यों उपजते सर में समाते ॥५८८॥

रागादि भाव भर को अघ पाश मानें,
वित्तादि वैभव महा दुःख खान जानें।
औ सत्य तथ्य समझें, जग प्राणियों में,
मैत्री रखें, बुध सदैव चराचरों में ॥५८९॥

जो "शुद्धता" परम "द्रव्यस्वभाव", स्थाई,
है "पारमार्थ" "अपरापर ध्येय" भाई।
औ वस्तु तत्त्व, सुन ये सब शब्द प्यारे,
हैं भिन्न-भिन्न पर आशय एक धारे ॥५९०॥

होते पदार्थ नव जीव अजीव न्यारा,
है पुण्य पाप विधि आस्रव बंध खारा।
आराध्य हैं सुखद संवर निर्जरा हैं,
आदेय हैं परम मोक्ष यही खरा है ॥५९१॥

है जीव, शाश्वत अनादि अनन्त ज्ञाता,
भोक्ता तथा स्वयम की विधि के विधाता।
स्वामी सचेतन तभी तन से निराला,
प्यारा अरूप उपयोगमयी निहाला ॥५९२॥

भाई कभी अहित से डरता नहीं है,
उद्योग भी स्वहित का करता नहीं है।
जो बोध, दुःख सुख का रखता नहीं है,
हैं मानते मुनि, अजीव उसे सही है ॥५९३॥

आकाश पुद्गल व धर्म, अधर्म, काल,
ये हैं अजीव सुन तू अयि भव्य बाल !
रूपादि चार गुण पुदगल में दिखाते,
है मूर्त पुद्गल, न [शेष, अमूर्त भाते ॥५९४॥

आत्मा अमूर्त नहि इंद्रिय गम्य होता,
होता तथापि नित, नूतन ढंग ढोता।
है आत्मा की कलुषता विधि बन्ध हेतु,
संसार हेतु विधि बन्धन जान रे ! तू ॥५९५॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाता,
होता विराग भवमुक्त अनन्त ज्ञाता।
संसारि जीव भर की विधि बन्ध गाथा,
संक्षेप में समझ क्यों रति गीत गाता ॥५९६॥

मोक्षाभिलाष यदि है तज राग रागी,
नीराग भाव गह ले, बन बीतरागी।
ऐसा हि भव्य जन शाश्वत सौख्य पाते,
शीघ्रातिशीघ्र भव वारिधि तैर जाते ॥५९७॥

है पाप-पुण्य विधि दो विधि बंध हेतु,
रे जान निश्चित शुभाशुभ भाव को तू।
हैं धारते अशुभ तीव्र कषाय वाले,
शोभे सुधार शुभ मन्द कषायवाले ॥५९८॥

धारे क्षमा खलजनों कटुभाषियों में,
लेवें नितान्त गुण शोध सभी जनों में।
बोलें सदैव प्रिय बोल उन्हीं जनों के
ये हैं उदाहरण मन्दकषायियों के ॥५९९॥

जो वैर-भाव रखना चिर, साधुओं में,
प्रादोप को निरखना गुणधारियों में।
शंसा स्वकीय करना उन पापियों के,
ये चिन्ह हैं परम तीव्र कषायियों के ॥६००॥

जो राग रोष वश मत्त बना भिखारी,
आधीन इन्द्रिय निकायन का विकारी।
है अष्ट कर्म करता त्रय योग द्वारा,
कैसे खुले फिर उसे वर मुक्ति द्वारा ॥६०१॥

हिंसादि पंच विष आस्रव द्वार द्वारा,
होता सदैव विधि आस्रव है अपारा।
आत्मा भवाम्बु निधि में तब डूब जाती,
नौका सछिद्र, जल में कब तैर पाती ? ॥६०२॥

हो वात से सरसि शीघ्र तरंगिता ज्यों,
वाक्काय से मनस से यह आतमा त्यों।
त्रैलोक्य पूज्य जिन "योग" उसे बताते
वे योग निग्रहतया जग जान जाते ॥६०३॥

ज्यों-ज्यों त्रियोग रुकते-रुकते चलेंगे,
त्यों-त्यों नितान्त विधि आस्रव भी रुकेंगे।
संपूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता
क्या पोत में विवर के बिन नीर जाता ? ॥६०४॥

मिथ्यात्व और अविरती कुकषाय योग,
ये चार आस्रव इन्हीं वश दुःखयोग।
सम्यक्त्व संयम, विराग, त्रियोगरोध
ये चार संवर, जगे इनसे स्वबोध ॥६०५॥

हो बन्द, पोतगत छेद सभी सही है !!!
पानी प्रवेश करता उसमें नहीं है।
मिथ्यात्व आदि मिटने पर शीघ्रता से
हो कर्म संवर निजातम साम्यता से॥६०६॥

रोके नितान्त जिनने विधि द्वार सारे,
होते जिन्हें निज समा ‹ग जीव प्यारे।
वे संयमी परम संवर को निभाते,
हैं पापरूप विधि-बन्धन को न पाते॥६०७॥

मिथ्यात्वरूप विधि द्वार खुले न भाई,
तू शीघ्र से दृग कपाट लगा भलाई।
हिंसादि द्वार, व्रतरूप कपाट द्वारा,
हे ! भव्य बन्द कर दे, सुख पा अपारा॥६०८॥

होता जलास्रव जहाँ तुम बांध डालो,
आये हुये सलिल बाद निकाल डालो।
तालाब में जल लबालब हो भले ही,
औ सूखता सहज से पल में टले ही॥६०९॥

हो संयमी परम आतम शोधता है,
संपूर्ण पापविधि आस्रव रोकता है,
निर्भ्रान्त कोटि भव संचित कर्म सारे,
होते विनष्ट, तप से क्षण में बिचारे॥६१०॥

पाये बिना परम संवर को तपस्वी,
पाता न मोक्ष तप से ;कहते मनस्वी।
आता रहा सलिल बाहर से सदा औ,
क्या सूखता सर कभी ? तुम ही बताओ॥६११॥

है कर्म नष्ट करता जितना वर्नों में,
जा अज्ञ धार तप, कोटि भवों भवों में।
ज्ञानी निमेष भर में त्रय गुप्ति द्वारा
है कर्म नष्ट करता उतना सुचारा ॥६१२॥

होता विनष्ट जब मोह अशांतिदाई,
तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई।
सेनाधिनायक भला रण में मरा हो
सेना कभी बच सके? न बचे जरा श्रो ॥६१३॥

लोकान्त लौं गमन है करता सुहाता,
है सिद्ध कर्ममलमुक्त, निजात्म धाता,
सर्वज्ञ हो लस रहा नित सर्वदर्शी
होता अतींद्रिय अनन्त प्रमोद स्पर्शी ॥६१४॥

संप्राप्त जो सुख, सुरों असुरों नरों को,
औ भोग भूमिजजनों अहमिन्द्रकों को।
ओ मात्र बिन्दु, जब सिद्धनका सुसिन्धु,
खद्योत ज्योत इक है, इक पूर्ण इन्दु ॥६१५॥

संकल्प तर्क न जहां मन ही मरा है
ना ओज तेज, मल की न परंपरा है।
संमोह का क्षय हुआ फिर खेद कैसे ?
ना शब्द गम्य वह मोक्ष दिखाय कैसे ॥६१६॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा,
आती न गन्ध सुख की दुख से न क्रीड़ा।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते,
"निर्वाण" जान वह है गुरु यों बताते ॥६१७॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिसमें नहीं हैं।
बाधा कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा है,
निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ।।६१८।।

चिन्ता नहीं उपजती चिति में जरा सी,
नोकर्म भी नहिं, नहीं वसु कर्म राशि ।
होते जहां नहि शुभाशुभ ध्यान चारों,
निर्वाण है वह रहा तुम यों विचारो ।।६१९।।

कैवल्य-बोध सुख दर्शन वीर्य वाला,
आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण में निवसता निज नीतिधारी,
अस्तित्व से विलसता जग आर्तहारी ।।६२०।।

पाते महर्षि ऋषि सन्त जिसे, वही है,
निर्वाण सिद्धि शिव मोक्षमही मही है ।
लोकाग्र है सुख अबाधक, क्षेम प्यारा,
वन्दूं उसे विनय से बस बार-बारा ।।६२१।।

एरण्डबीज सहसा जब सूख जाता,
है ऊर्ध्व ही नियम से उड़ना दिखाता ।
हो पंक लिप्त जल मे वह डूब जाती,
तुम्बी सपंक तजती द्रुत ऊर्ध्व आती ।

छूटा हुआ धनुष से जिस भांति बाण,
हो पूर्व योग वश हो गतिमान मान !
श्री सिद्ध जीवगति भी उस भांति होती,
धूमाग्नि की गति समा वह ऊर्ध्व होती ।।६२२।।

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध हैं अचल, नित्य, अनूप सारे ।
होते अतींद्रिय पुनः भव में न आते,
हैं पुण्य-पाप विधि-हीन मुझे सुहाते ।।६२३।।

*

३५. द्रव्य सूत्र

ये जीव, पुद्गल, रव, धर्म, अधर्म काल,
होते जहाँ समझ लोक उसे विशाल।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
यों "वीर ने" सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२४॥

आकाश पुद्गल अधर्म व धर्म, काल,
चैतन्य से विकल हैं सुन भव्य बाल।
होते अतः सब अजीव सदीव भाई,
लो जीव में उजल चेतनता सुहाई ॥६२५॥

ये पांच द्रव्य, नभ धर्म अधर्म, काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक हैं निहाल।
है मूर्त पुद्गल सदा सब में निराला,
है जीव चेतन निकेतन बोधशाला ॥६२६॥

ये जीव पुद्गल जु सक्रिय द्रव्य दो हैं,
तो शेष चार सब निष्क्रिय द्रव्य जो हैं।
कर्माभिभूत-जड़ पुद्गल से क्रियावान्,
है जीव, कालवश पुद्गल है क्रियावान् ॥६२७॥

है एक एक नभ धर्म, अधर्म तीनों,
तो शेष शाश्वत अनन्त अनन्त तीनों।
हैं वस्तुत. सब स्वतन्त्र स्वलीन होते,
ऐसा जिनेश कहते वसु कर्म खोते ॥६२८॥

है धर्म औ वह अधर्म त्रिलोक व्यापी,
आकाश तो सकल लोक अलोक व्यापी।
है मर्त्य लोक भर में व्यवहार काल,
सर्वज्ञ के वचन हैं सुन भव्य बाल ! ॥६२९॥

देते हुए अय परस्पर में मिले हैं,
ये सर्व द्रव्य पय शक्कर से घुले हैं।
शोभे तथापि अपने-अपने गुणों से,
छोड़े नहीं निज स्वभाव युगों-युगों से ॥६३०॥

है स्पर्श, रूप, रस, गंध विहीन स्थाई,
है खण्ड-खण्ड नहिं पूर्ण अखण्ड भाई।
है लोक पूर्ण सुविशाल असंख्य देशी,
धर्मास्तिकाय वह है सुन तू हितैषी ॥६३१॥

त्यों धर्म जीव जड़ की गति में सहाई,
ज्यों मीन के गमन में जल होय भाई।
औदास्य भाव धरता नहिं प्रेरणा है,
धर्मास्ति काय यह है जिन देशना है ॥६३२॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चले, गति है दिलाता।
होता न प्रेरक निमित्त तथापि भाई,
ज्यों रेल के गमन मे पटरी सहाई ॥६३३॥

है धर्म द्रव्य उस भांति अधर्म द्रव्य,
कोई क्रिया न करता सुन भद्र! भव्य!
औदास्य भाव धरती-सम धार लेता,
ज्यों प्राणि पुद्गल रुके स्थितिदान देता ॥६३४॥

आकाश व्यापक अचेतन भावधाता,
होता पदार्थ दल का अवगाहदाता।
भाई अमूर्त नभ के फिर भेद दो हैं,
है एक लोक, इक दीर्घ अलोक सो है ॥६३५॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ हैं,
माना गया अमित लोक यही यहाँ है ।
आकाश केवल अलोक वही कहाता,
यों ठीक-ठीक यह छन्द हमें बताता ॥६३६॥

है स्पर्श रूप रस गन्ध विहीन होता,
संवर्त्तनामय सुलक्षण जो कि होता ।
है धारता गुण सदा अगुरुलघु को,
है काल स्वीकृत यही जग में प्रभु को ॥६३७॥

है हो रहा नित अचेतन पुद्गलों में,
धारा-प्रवाह परिवर्त्तन चेतनों में ।
वो काल का बस अनुग्रह तो रहा है,
वैराग्य का परम कारण हो रहा है ॥६३८॥

घटा निमेष समयावलि आदि देखो,
होते प्रभेद जिसमें सहसा अनेकों ।
होता वही समय में व्यवहार काल,
है वीतराग जिनका मत है निहाल ॥६३९॥

दो भेद, स्कन्ध, अणु पुद्गल के पिछानो,
है स्कन्ध भेद छह दो अणु के सुजानो ।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा
पै चर्म चक्षु अणु की करती न पूजा ॥६४०॥

है स्थूल-स्थूल, फिर स्थूल, व स्थूल सूक्ष्म,
औ सूक्ष्म स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म सूक्ष्म ।
भू, नीर, आतप, हवा, विधि-वर्गणायें,
ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥६४१॥

किंवा धरा सलिल, लोचन गम्य छाया,
नासादि के विषय पुद्गल कर्म माया।
अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, छहो यहाँ ये,
है स्कन्ध भेद जड़ पुद्गल के बताये ॥६४२॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय गम्य होता,
है आदि मध्य अरु अन्त विहीन होता।
है एक देश रखता अविभाज्य भाता,
ऐसा कहे जिन यही परमाणु गाथा ॥६४३॥

जो स्कन्ध में वह क्रिया अणु में इसी से,
तू जान पुद्गल सदा अणु को खुशी से।
स्पर्शादि चार गुण पुद्गल धार पाता,
है पूरता पिघलता पर स्पष्ट भाता ॥६४४॥

ओ जीव है, विगत में चिर जी चुका है,
जो चार प्राण धर के अब जी रहा है।
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा,
उच्छ्वास-आयु-बल इन्द्रिय पा लसेगा ॥६४५॥

विस्तार संकुचन शक्तितया शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी!
पै छोड़ के समुदघात दशा हितैषी!
हैं वस्तुतः सकल जीव असंख्य देशी ॥६४६॥

ज्यों दूध में पतित माणिक दूध को ही,
है लाल-लाल करता सुन मूढ़ मोही!
त्यों जीव देह स्थित हो निज देह को ही,
सम्यक् प्रकाशित करें नहिं अन्य को ही ॥६४७॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता,
है ज्ञान भी सकल ज्ञेय प्रमाण साता।
है ज्ञेय तो अमित लोक अलोक सारा,
भाई अतः निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा ॥६४८॥

ये जीव हैं द्विविध, चेतन धाम सारे,
संसारि मुक्त द्विविधा उपयोग धारें।
संसारि जीव तनधारक हैं दुखी हैं,
हैं मुक्त-जीव तन-मुक्त तभी सुखी हैं ॥६४९॥

पृथ्वी जलानल समीर तथा लतायें,
एकेंद्रि-जीव सब स्थावर ये कहायें।
हैं धारते करण दो, त्रय, चार, पांच,
शंखादि जीव त्रस हैं करते प्रपंच ॥६५०॥

●

३६. सृष्टि सूत्र

हैं वस्तुतः यह अकृत्रिम लोक भाता,
आकाश का ही इक भाग अहो ! कहाता !
भाई अनादि अविनश्वर नित्य भी है,
जीवादि द्रव्य दल पूरित पूर्ण भी है ॥६५१॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कन्ध होता,
है स्निग्ध रूक्ष गुण धारक चूंकि होता।
ना शब्द रूप अणु है, इक देश धारी,
प्रत्यक्ष ज्ञान लखता "अणु" निर्विकारी ॥६५२॥

ये सूक्ष्म स्थूल द्‌यणुकादिक स्कन्ध सारे,
पृथ्वी जलाग्नि मरुतादिक रूप धारे ।
कोई इन्हें न ऋषि ईश्वर ही बनाते,
पै स्वीय शक्ति वश ही बनते सुहाते ॥६५३॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रय लोक सारा,
पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा।
है योग स्कन्ध उनमें विधि रूप पाने,
होते अयोग्य कुछ हैं समझो सयाने ! ॥६५४॥

ज्यों जीव के विकृत भाव निमित्त पाती,
वे वर्गणा विधिमयी विधि हो सताती।
आत्मा उन्हें न विधिरूप हठात् बनाता,
होता स्वभाववश कार्य सदा दिखाता ॥६५५॥

रागादि से निरखता यदि जानता है,
पंचेंद्रि के विषय को मन धारता है ।
रंजायमान उसमें वह ही फँसेगा,
दुष्टाष्ट कर्म-मल में चिर ओ लसेगा ॥६५६॥

सर्वत्र हैं विपुल हैं विधि वर्गणायें,
आकीर्ण पूर्ण जिनसे कि दशों दिशायें।
वे जीव के सब प्रदेशन में समाते,
रागादि भाव जब जीव सुधार पाते ॥६५७॥

ज्यों राग-रोष मय भाव स्वचित्त लाता,
है मूढ़ पामर शुभाशुभ कर्म पाता।
होता तभी वह भवान्तर को रवाना,
ले साथ ही नियम से विधि के खजाना ॥६५८॥

प्राचीन कर्म वश देह नवीन पाते,
संसारिजीव पुनि कर्म नये कमाते।
यों बार-बार कर कर्म दुखी हुए हैं,
वे कर्म-बन्ध तज सिद्ध सुखी हुए हैं ॥६५९॥

दोहा

"तत्व दर्शन" यही रहा निज दर्शन का हेतु,
जिन दर्शन का सार है भवसागर के सेतु।

(तृतीय खण्ड समाप्त)

३७. अनेकान्त सूत्र

जो विश्व के विविध कार्य हमें दिखाते,
भाई बिना ही जिसके चल वे न पाते।
नैकान्तवाद वह है जगदेक स्वामी,
वन्दूं उसे विनय से शिव पन्थगामी ।।६६०।।

आधार द्रव्य गुण का इक द्रव्य का ही,
आधार ले गुण लसे शिव राह राही।
पर्याय द्रव्य गुण आश्रित हैं कहाते,
ये वीर के वचन ना जड़ को सुहाते ।।६६१।।

पर्याय के बिन कहीं नहि द्रव्य पाता,
तो द्रव्य के बिन न पर्यय भी सुहाता।
उत्पात ध्रौव्य व्यय लक्षण द्रव्य का है,
यों जान, लाभ झट लूं निज द्रव्य का मैं ।।६६२।।

उत्पाद भी न व्यय के बिन दीख पाता।
उत्पाद के बिन कहीं व्यय भी न भाता,
उत्पाद और व्यय ना बिन ध्रौव्य के हो,
विश्वास ईदृश न किन्तु अभव्य के हो ।।६६३।।

उत्पाद ध्रौव्य व्यय हो इन पर्ययों में,
हो द्रव्य में नहि तथा उसके गुणों में।
पर्याय हैं नियत द्रव्यमयी, तभी हैं,
वे द्रव्य ही कह रहें गुरू यों सभी हैं ।।६६४।।

है एक ही समय में त्रय भाव ढोता,
उत्पाद ध्रौव्य व्यय धारक द्रव्य होता।
तीनों अतः नियत द्रव्य यथार्थ में हैं,
योगी कहें रत स्वकीय पदार्थ में हैं ।।६६५।।

पर्याय एक नशाती जब लौं जहाँ है,
तो दूसरी उपजती तब लौं वहाँ है।
पै द्रव्य है ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता,
ना जन्मता न मिटता यह शास्त्र गाता ॥६६६॥

पौरुष्य तो पुरुष में इक सार पाता,
ले जन्म से मरण लौं नहिं छोड़ जाता।
वार्धक्य औ शिशु किशोर युवा दशायें,
पर्याय है जनमती मिटती सदा ये ॥६६७॥

पर्याय जो सदृश द्रव्यन की सुहाती,
सामान्य नाम वह निश्चित धार पाती।
पर्याय हो विसदृशा वह हो विशेषा,
ये द्रव्य को तज नहीं रहती निमेषा ॥६६८॥

सामान्य और सविशेष द्विधर्म वाला,
हो द्रव्य ज्ञान जिसको लखना सुचारा।
सम्यक्त्व का वह सुसाधक बोध होता,
मिथ्यात्व मित्र, आर्य मित्र ! कुबोध होता ॥६६९॥

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई,
देता वही सुत किसी नय से दिखाई।
पै भ्रात तात सुत औ सबका न होता,
है वस्तु धर्म इस भाँति अशांति खोता ॥६७०॥

जो निर्विकल्प सविकल्प द्विधर्म वाला,
है शोभता नर मनो शशि हो उजाला।
एकान्त से यदि उसे इक धर्मधारी,
जो मानता वह न आगम बोध धारी ॥६७१॥

पर्याय नैक विध यद्यपि हो तथापि,
भाई विभाजित उन्हें न करो कदापि ।
वे क्षीर नीर जब आपस में मिलेंगे,
ओ 'नीर' 'क्षीर' 'यह' यों फिर क्या कहेंगे ?।।६७२।।

निःशंक हो समय में तज मान सारा,
स्याद्वाद का विनय से मुनि ले सहारा ।
भाषा द्विधाऽनुभय सत्य सदैव बोले,
निष्पक्ष भाव धर शास्त्र रहस्य खोले ।।६७३।।

३८. प्रमाण सूत्र

संमोह-संभ्रम-ससंशय हीन प्यारा,
कल्यान खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला !
माना गया स्वपर भाव प्रभाव दर्शी,
साकार नैकनिध शाश्वत सौख्य स्पर्शी ।।६७४।।

सज्ज्ञान पंचविध ही मति ज्ञान प्यारा,
दूजा श्रुतावधि तृतीय सुधा सुधारा ।
चौथा पुनीत मनपर्यय ज्ञान मानूं,
है पांचवां परम केवल ज्ञान-भानु ।।६७५।।

सज्ज्ञान पंच विध ही गुरु गा रहे हैं,
लेके सहार जिसका शिव जा रहे हैं ।
सम्पूर्ण क्षायिक सुकेवल ज्ञान नामी,
चारों क्षयोपशमिका अवशेप स्वामी ।।६७६।।

ईहा, अपोह, मति, शक्ति, तथैव सज्ञा,
मीमांस, मार्गण, गवेषण और प्रज्ञा ।
ये सर्व ही अभिनि बोधिक ज्ञान आई,
पूजो इसे बस यही शिव-सौख्य दाई ।।६७७।।

आधार ले विषय का मति के जनाना—
जो अन्य द्रव्य, श्रुत ज्ञान वही कहाता ।
औ लिंगशब्दज तया श्रुत ही द्विधा है,
होता नितान्त मतिपूर्वक ही सुधा है ।।
है मुख्य शब्दज जिनागम में कहाता,
जो भी उसे उर धरे भव पार जाता ।।६७८।।

पाके निमित्त मन इन्द्रिय का, अघारी,
होता प्रसूत श्रुत ज्ञान श्रुतानुसारी।
है आत्म-तत्त्व पर-सम्मुख थापने में,
स्वामी समर्थ श्रुत ही मति जानने में ॥६७९॥

हो पूर्व में मति सदा श्रुत बाद में हो,
ना पूर्व में श्रुत कभी मति बाद में हो।
होती 'पृ' धातु परिपूरण पालने में,
हो पूर्व में मति अतः श्रुत पूरणें में ॥६८०॥

सीमा बना समय आदिक की सयाने!
रूपी पदार्थ भर को इकदेश जाने।
जो ख्यात भाव-गुण प्रत्यय से ससीमा,
माना गया अवधिज्ञान वही सुधी मान! ॥६८१॥

है चित्त चिंतित अचिंतित चिंतता है,
या सार्ध चिंतित नृलोकन में यहाँ है।
जो जानता बस उसे शिव सौख्य दाता,
प्रत्यक्ष ज्ञान मन पर्यय नाम पाता ॥६८२॥

शुद्धैक औ सब, अनन्त विशेष आदि,
ये अर्थ हैं सकल केवल के अनादि।
कैवल्य ज्ञान इन सर्व विशेषणों मे,
शोभे अतः भज उसे, बच दुर्गुणों से ॥६८३॥

जो एक साथ सहसा बिन रोक-टोक,
है जानता सकल लोक तथा अलोक।
'कैवल्य ज्ञान', जिसको नहिं जानता हो,
ऐसा गतागत अनागत भाव ना हो ॥६८४॥

(आ) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण

वस्तुत्व तो नित नितान्त अबाध भाता
सम्यक्तया सहज ज्ञान उसे जनाता।
होता प्रमाण वह ज्ञान अतः सुधा है,
प्रत्यक्ष पावन परोक्षतया द्विधा है ॥६८५॥

ये धातु दो अशु तथा अश जो कहाती,
व्याप्त्यर्थ में अशन में क्रमशः सुहाती।
है अक्ष शब्द बनता सहसा इन्हीं से,
ऐसा सदा समझ तू नहि औ किसी से ॥

है जीव अक्ष जग वैभव भोगता है,
सर्वार्थ में सहज व्याप सुशोभता है।
तो अक्ष से जनित ज्ञान वही कहाता,
प्रत्यक्ष है त्रिविध, आगम यों बताता ॥६८६॥

द्रव्येंद्रियाँ मनस पुद्गलभाव धारें,
है अक्ष से इसलिए अति भिन्न न्यारे।
संजात ज्ञान इनसे वह ठीक वैसा,
होता परोक्ष बस लिंगज ज्ञान जैसा ॥६८७॥

होते परोक्ष मति औ श्रुत जीव के हैं,
औचित्य है परनिमित्तक क्योंकि वे हैं।
किंवा अहो परनिमित्तक हो न कैसे ?
हो प्राप्त-अर्थ-स्मृति से अनुमान जैसे ॥६८८॥

होता परोक्ष श्रुत लिंगज ही, महान—
प्रत्यक्ष हो अवधि आदिक तीन ज्ञान।
स्वामी ! प्रसूत मति, इंद्रिय चित्त से जो,
प्रत्यक्ष संव्यवहरा उपचार से हो ॥६८९॥

३६. नय सूत्र

द्रव्यांश को विषय है अपना बनाता,
होता विकल्प श्रुत धारक का सुहाता।
माना गया नय वही श्रुत भेद प्यारा,
ज्ञानी वही कि जिसने नय ज्ञान धारा ॥६९०॥

एकान्त को यदि पराजित है कराना,
भाई तुम्हें प्रथम है नय ज्ञान पाना।
स्याद्वाद बोध नय के बिन ना निहाला,
चाबी बिना नहिं खुले गृह-द्वार ताला ॥६९१॥

ज्यों चाहता वृष बिना 'जड़' मोक्ष जाना,
किंवा तृषी जल बिना हि तृषा बुझाना।
त्यों वस्तु को समझना नय के बिना ही,
है चाहता अबुध ही भवराह राही ॥६९२॥

तीर्थेश का वचन सार द्विधा कहाता,
सामान्य आदिम द्वितीय विशेष भाता।
दो द्रव्य पर्ययतया नय हैं उन्हीं के,
ये ही यथाक्रम विवेचक भद्र दीखे ॥
भेदोपभेद इनके नय शेष जो भी,
तू जान ईदृश सदा तज लोभ लोभी ! ॥६९३॥

सामान्य को विषय है नय जो बनाता,
तो शून्य ही वह 'विशेष' उसे दिखाता।
जो जानता नय सदैव विशेष को है,
सामान्य शून्य दिखता सहसा उसे है ॥६९४॥

द्रव्यार्थि की नय सदा इस भाँति गाता,
है द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता।
पँ द्रव्य है उदित होकर नष्ट होता,
पर्याय अर्थिक सदा इस भाँति रोता ॥६९५॥

द्रव्यार्थि के नयन में सब द्रव्य आते,
पर्याय अर्थिवश पर्यय मात्र भाते।
एक्सरे हमें हृदय अंदर का दिखाती,
तो कैमरा शकल ऊपर की बताती ॥६९६॥

पर्याय गौण कर द्रव्यन को जनाता,
द्रव्यार्थि की नय वही जग में कहाता।
जो द्रव्य गौण कर पर्यय को जनाता,
पर्याय अर्थिक वही यह शास्त्र गाता ॥६९७॥

जो शास्त्र में कथित नैगम, संग्रहा रे!
है व्यावहार ऋजु सूत्र सशब्द प्यारे।
एवंभुता समभिरूढ़ उन्हीं द्वयों के,
है भेद मूल नय सात, विवाद रोकें ॥६९८॥

द्रव्यार्थि की सुनय आदिम तीन प्यारे,
पर्याय अर्थिक रहें अवशेष मारे।
हैं चार आदिम पदार्थ प्रधान जानो,
हैं शेष तीन नय शब्द प्रधान मानो ॥६९९॥

सामान्य ज्ञान इतरोभय रूप ज्ञान,
प्रख्यात नैक विध है अनुमान! मान!
जानें इन्हें सुनय नैगम है कहाता,
मानो उसे नयिक ज्ञान अतः सुहाता ॥७००॥

जो भूत कार्य इस सांप्रत से जुड़ाना,
है भूत नैगम वही गुरु का बताना ।
वर्षों पुरा शिवगयें युगवीर प्यारे,
मानें तथापि हम 'आज उषा' पधारे ॥७०१॥

प्रारम्भ कार्य भर को जन पूछने से,
'पूरा हुआ' कि कहना सहसा मजे से ।
औ वर्त्तमान नय नैगम नाम पाता,
ज्यों पाक के समय ही बस भात भाता ॥७०२॥

होगा, अभी नहिं हुआ फिर भी बताना,
लो ! कार्य पूरण हुआ रट यों लगाना ।
भावी सुनैगम यही समझो सुजाना,
जैसा उगा रवि न किन्तु उगा बताना ॥७०३॥

कोई विरोध बिन आपस में प्रबुद्ध !
सत् रूप से सकल को गहता 'विशुद्ध' ।
जात्येक भेद गहता उनमें 'अशुद्ध',
यों है द्विधा सुनय संग्रह पूर्ण सिद्ध ॥७०४॥

संप्राप्त संग्रहतया द्विविधा पदार्थ—
जो है प्रभेद करता उसका यथार्थ ।
औ व्यावहार नय भी द्विविधा, स्ववेदी,
'शुद्धार्थ भेदक' अशुद्ध पदार्थ भेदी ॥७०५॥

जो द्रव्य में ध्रुव नहीं पल आयुवाली,
पर्याय हो नियत में बिजली निराली ।
जाने उसे कि ऋजु सूत्र सुसूक्ष्म भाता,
होता यथा क्षणिक शब्द सुनो सुहाता ॥७०६॥

देवादिपर्यय निजी स्थिति लौं सुहाता,
जो देव रूप उसको तब लौं जनाता।
तू मान स्थूल ऋजु सूत्र वही कहाता,
ऐसा यहाँ श्रमण सूत्र हमें बताता ॥७०७॥

जो द्रव्य का कथन है करता, बुलाता,
आह्वान शब्द वह है जग में सुहाता।
तत्-शब्द-अर्थ-भर को नय जो गहाता,
ओ हेतु तुल्य-नय शब्द अतः कहाता ॥७०८॥

एकार्थ के वचन में वच लिंग भेद,
है देख शब्दनय ही करतार्थ भेद।
पुंलिंग में व तियलिंगन में सुतारा,
ज्यों पुष्य शब्द बनता "नख छत्र तारा" ॥७०९॥

जो शब्द व्याकरण-सिद्ध, सदा उसी में,
होता तदर्थ अभिरूढ़ न औ किसी में।
स्वीकारना बस उसे उस शब्द द्वारा
है मात्र शब्दनय का वह काम सारा।
ज्यों देव शब्द सुन आशय 'देव' लेना,
भाई तदर्थ गहना तज शेष देना ॥७१०॥

प्रत्येक शब्द अभिरूढ़ स्वअर्थ में हो,
प्रत्येक अर्थ अभिरूढ़ स्वशब्द में हो।
है मानता समभिरूढ़ सदैव ऐसे,
ये शब्द इन्दर पुरन्दर शक्र जैसे ॥७११॥

शब्दार्थ रूप अभिरूढ़ पदार्थ 'भूत',
शब्दार्थ से स्खलित अर्थ अतः 'अभूत'।
एवंभुता सुनय है इस भाँति गाता,
शब्दार्थ तत् पर विशेष अतः कहाता ॥७१२॥

जो-जो क्रिया जन तनादितया करें ओ !
तत्-तत् क्रिया गमक शब्द निरे निरे हो !
एवंभूता नय अतः उस शब्द का है,
सम्यक् प्रयोग करता जब काम का है।
जैसा सुसाधु रत साधन में सही हो,
स्तोता तभी कर रहा स्तुति स्तुत्य की हो ॥७१३॥

४०. स्याद्वाद सप्त भंगी सूत्र

हो 'मान' का विषय या नय का भले हो,
दोनों परस्पर अपेक्ष लिये हुए हो।
सापेक्ष है विषय औ तब ही कहाता,
हो अन्यथा कि इससे निरपेक्ष भाता।७१४॥

एकान्त का नियति का करता निषेध,
है सिद्ध शाश्वत निपाततया "अवेद"।
स्यात् शब्द है वह जिनागम में कहाता,
सापेक्ष सिद्ध करता सबको सुहाता ॥७१५॥

भाई प्रमाण-नय-दुर्नय-भेद वाले,
हैं सप्त भंग बनते, क्रमवार न्यारे।
'स्यात्' की अपेक्ष रखते परमाण प्यारे!
शोभे नितान्त नय से नयभंग सारे॥
सापेक्ष दुर्नय नहीं, निरपेक्ष होते,
एकान्त पक्ष रखते दुःख को सजोते ॥७१६॥

स्यादस्ति, नास्ति उभयाऽवक्तव्य चौथा,
भाई त्रिधा अवक्तव्य तथैव होता।
यों सप्त भंग लसते परमाण के है,
ऐसा कहें जिनप आलय ज्ञान के है ॥७१७॥

क्षेत्रादिरूप इन स्वीय चतुष्टयों से,
अस्ति स्वरूप सब द्रव्य युगों-युगों से।
क्षेत्रादि रूप परकीय चतुष्टयों से,
नास्ति स्वरूप प्रतिपादित साधुओं से ॥७१८॥

जो स्वीय औ परचतुष्टय से सुहाती,
स्यादस्तिनास्तिमय वस्तु वही कहाती।
औ एक साथ कहते द्वय धर्म को है,
तो वस्तु हो अवकतव्य प्रमाण सो है॥
यों स्वीय स्वीय नय संग पदार्थ जानो,
तो सिद्ध हो अवकतव्य त्रिभंगम ानो ॥७१९॥

एकैक भंग मय ही सब-द्रव्य भाते,
एकान्त से सतत यों रट जो लगाते।
वे सात भंग तब दुर्नय-भंग होते,
स्यात् शब्द से सुनय से जब दूर होते ॥७२०॥

ज्यों वस्तु का पकड़ में इक धर्म आता,
तो अन्य धर्म उसका स्वयमेव भाता।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म, अतः लगाओ,
'स्यात्' सप्त भंग सब में झगड़ा मिटाओ ॥७२१॥

४१. समन्वय सूत्र

जो ज्ञान यद्यपि परोक्षतया जनाता,
नैकान्तरूप सबको फिर भी बताता ।
है संशयादिक प्रदोष-विहीन साता,
तू जान मान "श्रुत ज्ञान" वही कहाता ॥७२२॥

जो वस्तु के इक अपेक्षित धर्म द्वारा,
साधे सुकार्य जग के, नय श्रो पुकारा ।
श्रौ भेद भी नय वही श्रुत ज्ञान का है,
माना गया तनुज भी अनुमान का है ॥७२३॥

होते अनन्त गुण धर्म पदार्थ में हैं,
पै एक को हि चुनता नय ठीक से है ।
तत्काल क्योंकि रहती उसकी अपेक्षा,
हो शेष गौण गुण, ना उनकी उपेक्षा ॥७२४॥

सापेक्ष ही सुनय हो सुख को सँजोते,
माने गये कुनय हैं निरपेक्ष होते ।
संपन्न हो सुनय से व्यवहार सारे,
नौका समान भव पार मुझे उतारे ॥७२५॥

ये वस्तुतः वचन हैं जितने सुहाते,
हे भव्य जान नय भी उतने हि पाते ।
मिथ्या अतः नय हठी कुपथप्रकाशी,
सापेक्ष सत्य नय मोह-निशा विनाशी ॥७२६॥

एकान्तपूर्ण कुनयाश्रित पंथ का वे,
स्याद्वाद विज्ञ परिहार करें करावें ।
श्रो ख्याति लाभ वश जैन बना हठी हो,
ऐसा पराजित करो पुनि ना त्रुटी हो ॥७२७॥

सच्चे सभी नय निजी विषयों स्थलों में,
झूठे परस्पर लड़ें निशि वासरों में।
ये सत्य वे सब असत्य कभी अमानी,
ऐसा विभाजित उन्हें करते न ज्ञानी ॥७२८॥

ना वे मिले, यदि मिले तुम हो मिलाते,
सच्चे कभी कुनय पै बन है न पाते।
ना वस्तु के गमक हैं उनमें न बोधि,
सर्वस्व नष्ट करते रिपु से बिरोधी ॥७२९॥

सारे विरुद्ध नय भी बन जाय अच्छे।
स्याद्वाद की शरण ले कहलाय सच्चे !
पाती प्रजा बल प्रजापति छत्र में ज्यों,
दोषी अदोष बनते मुनि संघ में ज्यों ॥७३०॥

होते अनन्त गुण द्रव्यन में सयाने,
द्रव्यांश को अबुध पूरण द्रव्य माने।
छू अंग अंग गज के प्रति अंग को ही,
ज्यों अंध वे गज कहें, अयि भव्य मोही ! ॥७३१॥

सर्वांगपूर्ण गज को दृग से जनाता,
तो सत्य ज्ञान गज का उसका कहाता।
सम्पूर्ण द्रव्य लखता सब ही नयों से,
है सत्य ज्ञान उसका स्तुत साधुओं से ॥७३२॥

संसार में अमित द्रव्य अकथ्य भाते,
श्री वीर देव कहते मित कथ्य पाते।
लो कथ्य का कथित भाग अनन्तवां है,
जो शास्त्र रूप वह भी बिखरा हुआ है ॥७३३॥

निन्दा तथापि नित जो पर के पदों की,
शंसा अतीव करते अपने मतों की।
पांडित्य, पूजनयशार्थ दिखा रहे हैं,
संसार को सघन और बना रहे हैं ॥७३४॥

संसार में विविध कर्म-प्रणालियाँ हैं,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ हैं।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से,
सार्धमि से अनुज से पर से अरी से ॥७३५॥

है भव्यजीव-मति गम्य जिनेन्द्र-वाणी,
पीयूष-पूरित पुनीत-प्रशांति-खानी।
सापेक्ष-पूर्ण-नय-आलय पूर्ण साता,
आसूर्य जीवित रहे जयवन्त माता ॥७३६॥

४२. निक्षेप सूत्र

कोई प्रयोजन रहे तब युक्ति साथ,
औचित्य पूर्ण पथ में रखना पदार्थ।
'निक्षेप' है समय में वह नाम पाता,
नामादि के वश चतुर्विध है कहाता ॥७३७॥

नाना स्वभाव अवधारक द्रव्य प्यारा,
जो ध्येय ज्ञेय बनता जिस भाव द्वारा।
तद्भाव की वजह मे इक द्रव्य के ही,
ये चार भेद बनते सुन भव्य देही ! ॥७३८॥

ये नाम स्थापन व द्रव्य स्वभाव चारों,
निक्षेप है तुम इन्हें मन में सुधारो।
है नाम मात्र बस द्रव्यन की सुसंज्ञा,
है नाम भी द्विविध ख्यात, कहे निजज्ञा ॥७३९॥

आकार औ इतर 'स्थापन' यों द्विधा है,
अर्हन्त बिम्ब कृत्रिमेतर आदि का है।
आकार के बिन जिनेश्वर स्थापना को,
तू दूसरा समझ रे ! तज वासना को ॥७४०॥

जो द्रव्य को गत अनागत भाव वाला,
स्वीकारना कर सुसांप्रत गौण सारा।
निक्षेप द्रव्य वह आगम में कहाता,
विश्वास मात्र उसमें बस भव्य लाता ॥

निक्षेप द्रव्य, द्विविधा वह है कहाता,
नोआगमागमतया सहसा सुहाता।
ना शास्त्रलीन रहता, जिन शास्त्र ज्ञाता,
सो द्रव्य आगम जिनेश तदा कहाता ॥

नो आगमा त्रिविध "ज्ञायक देह" भावी,
औ "कर्म रूप" जिन यों कहते स्वभावी।
हे भव्य तू समझ ज्ञायक भी त्रिधा है,
जो भूत सांप्रत भविष्यतया कहा है ॥
औ त्यक्त च्यावित तथा च्युत यों त्रिधा है,
औ "भूत ज्ञायक" जिनागम मे लिखा है ॥

शास्त्रज्ञ की जड़मयी उस देह को ही,
तद्रूप जो समझना अयि भव्यमोही।
माना गया कि वह "ज्ञायक देह" भेद,
ऐसा जिनेश कहते जिनमें न खेद ॥
नीतिज्ञ के मृतक केवल देह को ले,
लो "नीति" ही मर चुकी जिस भाति बोले ॥

जो द्रव्य की कल दशा बन जाय कोई,
तद्रूप आज लखना उस द्रव्य को ही।
श्री वीर के समय में बस "भावि" सोही,
राजा यथा समझना युवराज को ही ॥

कर्मानुसार अथवा जग मान्यता ले,
रे! वस्तु का ग्रहण जो कर ले करा ले।
है "कर्म भेद" वह निश्चित ही कहाना,
ऐसा "वसन्त तिलका" यह छन्द गाना ॥

देवायु कर्म जिसने बस बाँध पाया,
ज्यों आज ही समझना यह "देव राया"।
या पूर्ण कुम्भ कलदर्पण आदि भाते,
लोकोपचारवश मंगल ये कहाते ॥७४१-७४२॥

है द्रव्य सांप्रत दशामय यों बताता,
निक्षेप "भाव" वह आगम में कहाता।
नोआगमाऽऽगमतया वह भी द्विधा है,
वाणी जिनेन्द्र कथिता कहती सुधा है॥

आत्मोपयोग जिन आगम में लगाता,
अर्हन् उसी समय है जिन शास्त्र-ज्ञाता।
तो "भाव आगम" नितान्त यही रहा है,
ऐसा यहाँ श्रमण सूत्र बता रहा है॥

अर्हन्त के गुण सभी प्रकटे जभी से,
अर्हन्त देव उनको कहना तभी से।
है केवली जब उन्हीं गुण धार ध्याता,
"नोआगमा" वह जिनागम में कहाता॥७४३-७४४॥

●

४३. समापन

अर्हन् प्रभो ! अमित दर्शन-ज्ञान-स्पर्शी,
वे 'ज्ञातृ पुत्र' निखिलज्ञ, अनन्तदर्शी।
'वैशालि में' जनम सन्मति ने लिया था,
धर्मोपदेश इस भांति हमें दिया था ॥७४५॥

श्री वीर ने सुपथ यद्यपि था दिखाया,
था कोटिशः सदुपदेश हमें सुनाया।
धिक्कार! किन्तु हमने उसको सुना ना,
मानो ! सुना पर कभी उसको गुना ना ॥७४६॥

जो साधु आगति-अनागति कारणों को,
पीड़ा प्रमोदप्रद आस्रव-संवरों को।
औ जन्म को मरण को निज के गुणों को,
त्रैलोक्य में स्थित अशाश्वत शाश्वतों को॥

औ स्वर्ग को नरक को दुख निर्जरा को,
हैं जानते च्यवन को उपपादता को।
श्री मोक्ष-पंथ प्रतिपादन कार्य में है,
वे योग्य, वंदन त्रिकाल करूँ उन्हें मे ॥७४७-७४८॥

वाणी सुभाषित सुधा, शुचि 'वीर' की है,
थी पूर्व प्राप्त न, अपूर्व अभी मिली है।
क्यों मृत्यु मे फिर डरूँ, तज सर्व ग्रंथि,
मैं हो गया जब प्रभो ! शिव-पंथ-पंथी ॥७४९॥

■■
■■

४४. वीर-स्तवन

सम्यक्त्व-बोध-व्रत पावन-झील न्यारे,
मेरे रहें शरण संयम शील सारे ।
लूं वीर की शरण भी मम प्राण प्यारे,
नौका समान भव पार मुझे उतारें ॥७५०॥

निर्ग्रन्थ हैं अभय धीर अनन्त ज्ञानी,
आत्मस्थ हैं अमल हैं कर आयु हानि ।
मूलोत्तरादिगुण धारक विश्वदर्शी,
विद्वान 'वीर' जग में जग चित्त हर्षी ॥७५१॥

सर्वज्ञ हैं अनियताचरणावलम्बी,
पाया भवाम्बुनिधि का तट स्वावलम्बी ।
हैं अग्नि से निशि नशा स्वपरप्रकाशी,
हैं "वीर" धीर रवितेज अनंतदर्शी ॥७५२॥

ऐरावता वर गजों हरि ज्यों मृगों में,
गंगा नदों गरुड़ श्रेष्ठ विहंगमों में ।
निर्वाणवादि मनुजों मुनि साधुओं में,
त्यों 'ज्ञातृपुत्र' वर 'वीर' मुमुक्षुओं में ॥७५३॥

ज्यों श्रेष्ठ सत्य वचनों वच कर्ण-प्रीय,
दानों रहा 'अभय दान' समर्च्यनीय ।
है ब्रह्मचर्य तप उत्तम सत्तपों में,
त्यों ज्ञातृपुत्र श्रमणेश धरातलों में ॥७५४॥

हैं जन्मते कब कहां जग जीव सारे,
जानो जगद्गुरु ! तुम्हीं जगदीश ! प्यारे ।
धाता पितामह चराचर मोदकारी,
हे ! लोकबन्धु भगवन् ! जय हो तुम्हारी ॥७५५॥

संसार के गुरु रहें जयवन्त नामी !
तीर्थेश अंतिम रहें जयवन्त स्वामी !
विज्ञान स्रोत जयवन्त रहें ममात्मा,
वे "वीरदेव" जयवन्त रहें महात्मा ॥७५६॥

दोहा

मेरे वादविवाद को निर्विवाद स्याद्वाद,
सब वादों को खुश करे पुनि-पुनि कर संवाद ॥

चतुर्थ खण्ड समाप्त

●

भूल क्षम्य हो

गुरु स्मृति-स्तुति

वसन्ततिलका छन्द

मैं आपकी सदुपदेश सुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह जैनगीता।
लेखक, कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान,
त्रुटियाँ होवें यदि यहां शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

मंगल कामना

दोहा

हो ज्ञानसागर गुरो ! मुझको सुविद्या ।
'विद्यादिसागर' बनूं तज दूं अविद्या ॥२॥

यही प्रार्थना वीर से अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे धरती चारों ओर ॥३॥

मरहम पट्टी बांध के व्रण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना बन सका, डंडा तो मत मार ॥४॥

फूल बिछाकर पन्थ में पर-प्रति बन अनुकूल।
शूल बिछाकर भूल से मत बन तू प्रतिकूल ॥५॥

तजो रजो गुण, साम्य को सजो, भजो निज धर्म।
शर्म मिटे, भव दुख मिटे, आशु मिटे वसु कर्म ॥६॥

ही से भी की ओर ही बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्व शांति का योग ॥७॥

जिनके चरणों मे बैठकर आचार्य श्री ने

- जैन गीता पूर्ण की -

१५०० वर्ष प्राचीन १५ फुट ऊंची, अद्भुत, आकर्षक
मनोज्ञ, अतिशयकारी पद्मासन प्रतिमा
श्री दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र कुन्डलपुर जी
दमोह (म प्र)

धर्म क्या है-

जो आज तक आपको अच्छा नहीं लगा।

जो आज तक आपने किया नहीं-

वह धर्म है।

१०८ आचार्य विद्यासागर

स्थान परिचय

श्रीधर केवलि शिवगये, कुण्डलगिरि [illegible] ।
धारा वर्षा योग उन, चरणन मे हम [illegible] ॥८॥

'बड़े बाबा" बड़ी कृपा की मुझ [illegible] !
पूर्ण हुई मम कामना पाकर जिन-आशीष ॥९॥

नग गगनगनि गध की भाद्रपदी [illegible] तीज।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥१०॥